दो शब्द

साधुसाध्वियों को लक्ष्य करके प्रिय नेमिमुनिने यह पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक पर से 'साधुसाध्वियों का क्या स्थान है और क्या होना चाहिये?' इस विषय में काफी ख्याल आ जाता है।

एक भाई ने मुझसे पूछा कि 'साधुसाध्वियों से आप जैनसाधुवर्ग को ही कहना चाहते हैं या किन्हीं और को भी?' मुझे लगता है, उस भाई का यह प्रश्न यथार्थ है; क्योंकि भारत में जब हम जैन-जैनेतर संन्यासियों के इतिहास पर विचार करते हैं तो जगद्गुरु शंकराचार्य का नाम जैन, बौद्ध और वैदिक, तीनों संन्यासीपरम्पराओं में, अपने काल में उभर आता है। उन शंकराचार्य के ज्ञान और त्याग सैकड़ों वर्षों की परम्परा से चले आते हों तो उनमें आज भी जैनसाधुसाध्वियों का स्थान सर्वप्रथम आता है। कारण यह है कि पादविहार और भिक्षाचरी ये दोनों साधुता के मुख्य अंग मुख्यतया जैनसाधुसाध्वियों में आज भी सुरक्षित रहे हैं। भगवान् महावीर स्वामी से जैनसाधुवर्ग को मिला हुआ यह ताजा जीवित उत्तराधिकार है। इसी उत्तराधिकार के ही कारण ग्रामों में या पर्वतों में इच्छा से या अनिच्छा से, भले ही कदाचित् ही क्यों न हों वे नजर आते हैं। आम जनता के साथ गहरा और पारदर्शी सम्पर्क पादविहार और भिक्षाचरी से अच्छी तरह कायम हो सकता है; यह कहने की शायद ही जरूरत हो, इसी प्रकार 'अनुबन्ध-विचारधारा' में जो चार अंग मुख्य स्तंभ या नींव रूप हैं, वे ये हैं:—(१) शुद्ध और संगठित ग्राम (२) शुद्ध राज्यसंस्था (३) रचनात्मक कार्यकर्ताओं की संस्था और (४) क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियां। इनमें के प्रथम तीन

बुनियादी अंगों को छोड़ने में जैन परम्परा के साधु-साध्वी इस कारण भी सफल बनते हैं कि इनके वेश या संस्था का निर्माण भी इन्होंने ही नहीं बल्कि हजारों वर्षों से (इस प्रकार का) चलता आ रहा है। और इस युग में संस्था को छोड़कर सिर्फ व्यक्ति से विश्वव्यापी परि-वर्तन हो नहीं सकता। इसी तरह जैनसाधुसाध्वियों के महत्व का एक तीसरा कारण यह भी है कि तप-त्याग का संचित अनुभव इस वर्ग को विशेषरूप से हुआ है। भालनलकांठाप्रयोग में से 'शुद्धि प्रयोग' नामक नैतिक-सामाजिक दबाव लाने का मुख्य साधन मिला है। इसमें तपत्याग का संचित अनुभव और आत्मबल का समन्वय ये दो बातें महत्वपूर्ण हिस्सा अदा करती हैं। हिन्दुस्तान के एक विद्यार्थी का दक्षिण अमेरिका से एक पत्र आया है, उसमें वह लिखता है—"यहां के लोगों के सामने जब मैं शुद्धिप्रयोग की बात करता हूं तो उन्हें इतना आश्चर्य होता है कि न पूछिये बात! क्या यह संभव हो सकता है! अगर हो सके तो अद्भुत समझा जायगा।"

अणुबम के जमाने में या चन्द्रलोक में मनुष्यजाति को पहुंचाने के इस वैज्ञानिकयुगमें सचमुच यह साधन चमत्कारक बनने जैसा है। और इसी कारण जैनधर्मपरम्परा, गीता का धर्मसमन्वय तथा गांधीयुग इन तीनों का समन्वय आज अनिवार्य जरूरी बन गया है। भालनलकांठाप्रयोग ने इस अनिवार्य जरूरी बात को अमलीरूप देकर एक महान प्रस्थान किया है। तब इस चातुर्मास में बम्बई में साधुसाध्वियों और साधक-साधिकाओं का शिबिर किसलिए? इस प्रश्न का उत्तर इसी बात से स्पष्ट मिल जाता है।

नेमिमुनि, जो सिर्फ विद्वान् ही नहीं हैं, विद्वत्ता के अतिरिक्त उनमें प्रखर कर्मठता भी है, त्याग-तप की सहज प्रीति है और भाल-नलकांठा-प्रयोगभूमि के व्यक्तियों तथा प्रयोग-प्रवृत्तियों का उन्हें ठीकठीक

अध्ययन और अनुभव है; उनके हाथ से लिखी हुई यह पुस्तक क्रान्ति-प्रिय साधुसाध्वियों को शिविर में शीघ्र दौड आने के लिए प्रेरित करेगी।

वैदिक परम्परा या किसी भी अन्य परम्परा में जिन्होंने संन्यास लिया हो, उन सन्यासी भाईबहिनों को भी उपर्युक्त परीक्षा में बैठने का अधिकार सहज ही मिल जाता है, इसके वर्णन की तो जरूरत नहीं है।

इसी प्रकार हाथ और पैर के बिना हृदय और बुद्धि काम नहीं कर सकते; इसके लिए इस शिविर में सेवक सेविकाओं तथा कुमार-कुमारिकाओं को भी अपने-अपने स्थान में अवकाश है, यह कहने की भी जरूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त, जिन्हें शिविर में आना हो, उन्हें क्या विधि करनी होगी आदि इस और इस तरह के अन्य सभी प्रश्नों के बारे में यह पुस्तक अपने-आप कह देगी। इस दृष्टि से इस पुस्तक के लेखक को सहज ही धन्यवाद मिल जाता है।

—'संतबाल'

साधुसाध्वियों से !

मेरे प्रिय आत्मीय साधुसाध्वियो !

मैं आपका ही एक आत्मीय हूं, स्नेही हूं, इसलिए आपसे कुछ बातें नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं। मैं जो कुछ कहूंगा, वह उपदेशाधि-पद से नहीं, किन्तु समस्त साधुसंस्था के हित की दृष्टि से ही कहूंगा !

साधुसंस्था का भूतकाल

आप जानते हैं कि भारतवर्ष त्यागियों और साधुसंन्यासियों का पुजारी राष्ट्र रहा है। यहां बड़े-से-बड़े राजामहाराजा और सम्राट् तथा बड़े-से-बड़े विद्वान पंडित भी इन त्यागियों के चरणोंमें अपना मस्तक झुकाते थे और उनके एक इशारे पर बड़ी-से-बड़ी चीज की कुर्बानी करने बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए तैयार रहते थे। आम जनता के प्रत्येक छोटे-से-छोटे कार्योंमें भी उनकी दृष्टि और नैतिक धार्मिक प्रेरणा रहा करती थी। यहां तक कि कौटुम्बिक जीवन में भी धर्म और नीति का पुट रहता था। भगवान् ऋषभदेव, बुद्ध या आदिमनु से लेकर आज तक धर्म और संस्कृति के इन नवनिर्माताओं, साधुसंन्यासियों को माना और पूजा गया है। यही कारण है कि दूसरे राष्ट्रोंकी अपेक्षा भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति त्याग-बलिदान में सबसे आगे रही है। जिस राष्ट्र की जनता त्याग की कद्र करती है, वह त्यागियों की कद्र करती है। त्यागियों की कद्र करना, उन्हें प्रतिष्ठा देना अपनी नैतिकता को उज्ज्वल कर अपनी मनुष्यता का देवत्व बढ़ाना है। इसी कारण यहां की जनता में त्यागके प्रति सर्वस्व न्यौछावर करने और त्यागियों की बात शिरोधार्य करने की वृत्ति रही है।

यहां की संस्कृति में यह विशेषता रही है कि साधुसंन्यासियों ने जनजीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ धर्म को जोड़ा है। हम यहां के खानपान, रहनसहन या विवाहप्रथा आदि को लें, अर्थोपार्जन, व्यापारधंधे को

अध्ययन और अनुभव है; उनके हाथ से लिखी हुई यह पुस्तक क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को शिविर में शीघ्र दौड आने के लिए प्रेरित करेगी।

वैदिक परम्परा या किसी भी अन्य परम्परा में जिन्होंने संन्यास लिया हो, उन संन्यासी भाईबहिनों को भी उपर्युक्त परीक्षा में बैठने का अधिकार सहज ही मिल जाता है, इसके वर्णन की तो जरूरत नहीं है।

इसी प्रकार हाथ और पैर के बिना हृदय और बुद्धि काम नहीं कर सकते; इसके लिए इस शिविर में सेवक सेविकाओं तथा कुमारकुमारिकाओं को भी अपने-अपने स्थान में अवकाश है, यह कहने की भी जरूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त, जिन्हें शिविर मे आना हो, उन्हें क्या विधि करनी होगी आदि इस और इस तरह के अन्य सभी प्रश्नों के बारे में यह पुस्तक अपने-आप कह देगी। इस दृष्टि से इस पुस्तक के लेखक को सहज ही धन्यवाद मिल जाता है।

—'संतबाल'

। है कि यहांके धर्मगुरुओं ने यहां की राजनीति को पवित्र रखनेके लिये राजनैतिक वातावरण की शुद्धि के लिए राजनैतिक क्षेत्र में गहरी-से गहरी एँ दी हैं । इसके प्रत्यक्ष प्रमाण रामायण और महाभारत नामक ग्रन्थ हैं । रामायण और महाभारत दोनों में नीतिधर्म से समन्वित नीति की प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं । जैनधर्म और बौद्धधर्म के ग्रन्थों की ओं में भी जगह-जगह राजाओं के साधुमुनियों से धार्मिक प्रेरणा मिलने अनेक उदाहरण हैं । भारत के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास को खेंगे तो उसमें जगह-जगह जैनाचार्यों, जैनसाधुसाध्वियों (हेमचन्द्राचार्य गुणसूरि, हीरविजयसूरि, मदनरेखा साध्वी, कालकाचार्य वगैरह) राजनीति की शुद्धि के लिए अथक प्रयत्न मिलेंगे । सम्राट् अशोक, श्रेणिक, गुप्त मौर्य, सम्प्रतिराजा आदि सब को जैन और बौद्ध धर्मगुरुओं ही तो राजनीति में धर्मकी प्रेरणा मिली थी । जगद्गुरु शंकराचार्य ह संन्यासियों ने भी भारत के अनेक राजाओं को धार्मिक ा दी है । मुगल शासनकाल में भारत के राज्यकर्ता मुगल बादशाहों साधुसंन्यासियों का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता है । छत्रपति ाजी तो समर्थ रामदास स्वामी की प्रेरणा से प्रेरित हुए थे । इसी ण भारत को 'साधुपूजक' का विरुद मिल गया था ।

यद्यपि सेमेटिक जाति में और अरब आदि एशियाई देशों में पैदा मुस्लिम फिरकों में भी साधुसंस्था का महत्व काफी था । इसी ईसाईधर्म में भी साधुसंस्था का महत्व काफी पनप चुका था । भी भारतवर्ष में जैसे मानवजीवन के हर क्षेत्र में साधुसंस्था सतत चौकी और नैतिकधार्मिक प्रेरणा रही, वैसी उनमें न रही ।

हां, यह बात जरूर है कि यहां जननिर्माण के कार्यों में ब्राह्मण प्रत्यक्ष सक्रिय भाग लेता था, जब कि श्रमण-संन्यासीवर्ग अपनी धुमर्यादा में रह कर नैतिक चौकी रखता और प्रेरणा देता रहता ।

[illegible]

(१) [illegible] था। [illegible]
और संस्कार [illegible] था।

(२) लिखने का रिवाज न होने से कंठस्थ करके [illegible] को सुरक्षित रखता था।

(३) शारीरिक चिकित्सा करता था।

(४) धार्मिक और सामाजिक क्रियाकाण्ड करता था। उत्सवों, पर्वों, विवाहप्रसंगों और जन्ममृत्यु आदि प्रसंगों पर संस्कार-विधि करवाता था।

(५) आवश्यकता होने पर लोगों को ठीक सलाह देता था। सामाजिक नीतिनियम बनाता था, दण्डविधान करता था।

इन और ऐसे ही कार्यों के लिए वह वेतन के रूप में कुछ नहीं लेता था। समाज उसके भरणपोषण की चिन्ता करती थी। वह बहुत सादगी और निःस्पृहता से रहता था, इसलिए समाज उसे सत्कार देता, भेंट देता और उसका योगक्षेम चलाता था।

इस ब्राह्मणवर्ग का श्रमण-संन्यासीवर्ग के साथ अनुबन्ध रहता था। इसलिए श्रमण-संन्यासीवर्ग परिव्राजक होनेके कारण तथा ब्राह्मण वर्ग से समाज की गतिविधि की जानकारी होती रहने के कारण समाज की नैतिक जागृति तथा प्रेरणा का काम सतत करता रहता था। यही कारण है कि उस युग में बड़े अनिष्ट कम ही पनपते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के

साम्राज्यकाल में लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे: क्योंकि उस समय चोरियां व लूटपाट नहीं होते थे। साथ ही प्राचीन भारत के आर्यों में सादगी और त्याग तो ओतप्रोत हुआ करता था। आलस्य और अकर्मण्यता उनके पास भी नहीं फटकते थे। चाय, बीड़ी, तमाखू, अफीम, भांग, गांजा, शराब आदि दुर्व्यसनों से उस समय के लोग दूर ही रहा करते थे। परस्त्रीगामी और व्यभिचारी को तो उस समय समाज बहुत बुरी नजरों से देखता था। अनीतिमान और अन्यायी-अत्याचारी धनिक या सत्ताधारी को तो उस समय पदच्युत कर दिया जाता था या देशनिकाला दे दिया जाता था। उस समय के गुरुकुलों में २५ वर्ष तक प्राय: प्रत्येक बालक ब्रह्मचर्यपूर्वक रह कर विद्याध्ययन किया करता था; इसलिए उस समय के युवक तेजस्वी, कर्मठ, कार्यकुशल, श्रमजीवी और शतायु हुआ करते थे। गृहस्थाश्रमियों में एक से एक बढ़कर त्यागप्रिय, कर्त्तव्यशील, वफादार, श्रमनिष्ठ, कर्मठ और सादे जीवनवाले होते थे। महाभारतकार उस युग की परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं :-

'न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न च मद्यपः....'

'मेरे देश में कोई चोर नहीं, न कोई कृपण है और न शराबी है।' सारांश यह कि उस समय भारतवर्ष नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा पर था। इसका एकमात्र कारण देखा जाय तो भारतवर्ष की त्यागी, निःस्पृह और चारित्र्यशील साधुसंस्था की सतत जागृति है।

वर्तमान में साधुसंस्था की दुर्दशा और उसका दुष्परिणाम

परन्तु जब से भारतवर्ष में ऋषिमुनि, ब्राह्मण-श्रमण अपनी साधुता की बुनियादस्वरूप मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में नैतिक चौकी और धार्मिक प्रेरणा से उदासीनता और उपेक्षा का सेवन करने लगे और

ामाजिक व्यवहार में धर्म को तिलाञ्जलि दे दी गई। इस तरह समाज के
ाथ साधुसंस्था ध्येययुक्त अनुबन्ध तोड़ बैठी । फलतः वाड़ाबन्दी,
ाम्प्रदायिकता, भेदभाव, धर्म के नाम से कलह, अन्धश्रद्धाएँ, जीवनव्यवहार
ौर धर्म का अलगाव आदि अनिष्ट फैलने लगे । इधर भौतिक विज्ञान
ढ़ने लगा और यंत्रवाद और पूंजीवाद का बोलबाला सहज बढ़ता चला।
माज पर से तो नैतिक चौकी चली ही गई थी।

दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में नई समाजरचना के अग्रपात्र ग्रामों,
मजीवियों, पिछड़ी जातियों आदि से अनुबन्ध तोड़कर धर्मगुरु प्रायः
हरों में प्रविष्ट होने लगे और ग्रामों में उद्योगनिष्ठ और श्रमजीवी किसान-
जदूरों का शोषण तथा उन पर अन्याय होते देख कर भी वे आंखें
द कर पूंजीवाद के एजेंट बन बैठे। और तभी से ग्रामधर्म, नगरधर्म और
ाष्ट्रधर्म का पालन स्वप्नवत् हो गया। साथ ही सामाजिक प्रश्नों के प्रति
पेक्षा करने से समाज में आए दिन चोरी, व्यभिचार, कत्ल, अन्याय-
त्याचार, शोषण, झूठफरेब, शराबखोरी, बेईमानी, सट्टा-जूआ, वेश्यागमन
ात्महत्या, लूटपाट, बीड़ी, तमाखू, भांग, गांजा, अफीम, सिगरेट, चाय
ादि नशीली चीजों का व्यसन बढ़ गया। आज भी देखिये, यही हाल
ढ़ता जा रहा है । आमजनता सरकार को कोसती है, सरकार जनता
ो कोसती है और धर्मगुरु सरकार, जनता, कर्म, भाग्य, जमाना
ादि को कोस कर रह जाते हैं। किन्तु समस्याओं की जड़ पर और कर्तव्य-
ज्ञन की राह पर नहीं चलते।

कौटुम्बिक क्षेत्रमें धर्मगुरुओं की उपेक्षा के कारण भोगवाद बढ़ता गया।
तिपत्नी दाम्पत्यधर्म को छोड़ कर देहलग्न में रचेपचे रहने लगे और
त बात में तलाक का रास्ता लेने लगे । वरकन्याओं के सरेआम विक्रय
ोने लगे, यहां तक कि इनमें भी कालाबाजार होने लगा। बालविवाहों,
द्ध-विवाहों, और अनमेलविवाहों का दौरदौरा शुरु हो गया। गृहस्थजीवन में

[illegible]

[illegible] आज-कल [illegible] अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार आदि चल रहे हैं। कहीं कहीं गांवों में जमीन, पैसे या मामूली बातों की बात पर आपस में [illegible] बन जाता है सो लोग सीधे कोर्ट कचहरी में न्याय लेने दौड़ते हैं; किन्तु वहां तो प्रायः न्याय के बदले अन्याय मिलता है, और समय, शक्ति और धन का अपव्यय होता है सो अलग। कहीं गांवों में फूट और बेकारी के कारण ग्रामीणजनों को अपने श्रम का उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और उनमें परस्पर नैतिक संगठन न होने के कारण ब्याज, दलाली, वेठबेगार आदि अनेक द्वारों से उनका शोषण होता है। अनीति और शोषण के द्वारा काफी धनोपार्जन करने वाले धनिक लोगों को समाज में, सभा-सोसा-इटियों में, उच्चपद या उच्चासन मिलने लगे और साधुओं के पास भी ऐसे लोगों द्वारा थोड़ीसी छिछली धर्मक्रियाएं करने पर दानवीर पुण्यवान, धर्मात्मा सेठजी आदि पद मिलने लगे। इस प्रकार सस्ती मिली हुई प्रतिष्ठा में फंस कर धनिक लोग शोषण की ओर तेजी से दौड़ लगाने लगे। इसका असर समाज के मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग पर भी हुआ और वे भी धन कमाने के साथ नीतिधर्म की दृष्टि भुलाने लगे। व्यावसायिक क्षेत्र में व्यवहा-

रशुद्धि और ईमानदारी को मानो देशनिकाला दे दिया गया हो, ऐसा प्रतीत होने लगा।

शैक्षणिक क्षेत्र में अकर्मण्यता, आलस्य, विलासिता और बौद्धिक विलास एवं परभाग्योपजीविता की शिक्षा दी जाने लगी। विद्यार्थी को कोरा किताबी ज्ञान हासिल करके परीक्षा पास करने की धुन लगी, और शिक्षकों का लक्ष्य किसी तरह घंटे पूरे करके वेतन लेना होगया। विद्यार्थियों में विनय, श्रम, संस्कार आदि की चिन्ता न तो शिक्षकों को रही और न मातापिताओं को। इस प्रकार शैक्षणिक क्षेत्र में धर्मगुरुओं की उदासीनता के कारण शिक्षणक्षेत्र नीतिधर्म से विहीन होगया। सहशिक्षा में जागृति न रहने के कारण तो शिक्षणक्षेत्र काफी बदनाम हुआ है और विद्यार्थियोंमें उद्दंडता, तोड़फोड़, मारकाट. बदमाशी आदि प्रवृत्तियां बढ़ी है। जगह-जगह अश्लील गायन, विकारवर्द्धक खानपान, रहन-सहन, चरित्र-चित्रण आदि द्वारा समाजके तरुणों का अधःपतन होरहा है। किन्तु साधुसंस्था को इससे मतलब ही क्या? उसे तो अपना कल्याण करना है न?

राजनैतिक क्षेत्र के प्रति साधुओं की उपेक्षा का दुष्परिणाम यह आया कि प्रत्येक राजनीतिक पक्ष अशुद्ध होने लगा, उसमें सत्ता का उग्र लालच घुसने लगा। तथाकथित पक्षवादी लोग वोट लेनेके लिए अनेक प्रकार के हथकंडे करने लगे। यहाँ तक कि जालसाजी, धोखा फरेब कर चांदीके टुकड़े देकर, ईमान-धर्म भी बेचकर, शराब, मांस आदि खिलापिला कर मत लेनेका प्रबन्ध किया जाने लगा। वास्तव में राजनीतिक क्षेत्र एक प्रकार का बेईमानी और धोखेबाजी का अखाड़ा बन गया। नीति-धर्म से पुनीत राजनीति आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से अशुद्ध हो गई। सत्ता को टिकाए रखने या अपना पद कायम रखनेके लिए एक ही पक्ष में आपसी फूट और तू-तू-मैं-मैं होने लगी। लोकतंत्रीय शासन होने पर भी जनता में कोई जागृति नहीं रही, हर बात में जनता सरकार का मुंह ताकने और काम बिगड़ जाने पर सरकार को कोसने लगी।

वह समालोचना से दूर रह कर अपनी वासना या कामना का पोषण करने के लिए महारम्भियों और महापरिग्रहियों का आश्रय लेने लगे। अपनी आध्यात्मिकता का संकीर्ण दिवाला निकल गया। ऐसे तथाकथित अध्यात्मवादी अपने खाने-पीने के लिए समाज से अच्छी अच्छी चीजें लेने लगे, पहिनने के लिए बारीक, रेशमी या मलमल, अथवा गर्मी लगे मुलायम वस्त्र लेने लगे, रहने के लिए आलीशान भवनों का उपयोग करने लगे, बीमार हो जाने पर हजारों रुपयों की एलोपैथिक दवाइयाँ और इंजेक्शन समाज से लेने लगे, अपने चौमासों, जयंतियों, दीक्षोत्सवों आदि के मौकों पर आडम्बर और प्रदर्शन करने के लिए धर्मप्रेम का नाम लेकर धनिकों की थैलियाँ खाली कराने लगे, अपनी पूजाप्रतिष्ठा के लिए भी तरह-तरह के उपाय अजमाये जाने लगे; किन्तु समाज, राष्ट्र या विश्व की कोई गुत्थी उलझ जाए या इनमें धर्मनीति-रहित कार्य हो रहा हो तो ऐसे मौके पर सीधा रटा उत्तर मिलेगा— 'संसार और समाज से हमें क्या लेना देना! संसारी लोग डूबें या तिरें, हमारी बला से! राष्ट्र, समाज आदि कार्यों में नैतिक धार्मिक प्रेरणा देना तो संसारी काम है, हम संसार की गुत्थी सुलझाने के फंदे में क्यों पड़ें! इत्यादि।' क्योंकि ऐसे अध्यात्मवादी समझते जो ठहरे! संसार का कुछ भी बनता-बिगड़ता हो, विश्वमैत्री का उच्चारण तो प्रतिक्रमण के समय हो ही जाता है, उसकी साधना करने से मतलब ही क्या!

व्यक्तिगत क्षेत्र में साधुओं ने चिन्तन से प्रायः निवृत्ति ही ले ली। फलतः धर्मगुरु प्रायः जड़ क्रियाकाण्डों अथवा रूढ़ निरर्थक नियमों के कैदखाने में बन्द हो गए। सर्वसामान्य रूढ़िग्रस्त समाज का स्वभाव अमुक क्रियाकाण्डों से व्यक्तिगत विकास रुकता हो तो भी उनसे चिपके रहने का होता है, इसी प्रकार समाज के कर्णधार साधुपुरुष भी प्रायः अपनी पुरानी संचित प्रतिष्ठा के मोह और प्राणमोह के कारण या समाज का आश्रय छूट जाने के भय से अमुक कटघरे में या अमुक दम्भवर्द्धक,

हैं। इसी प्रकार विश्वरचना भी यूथमय (गुटबन्दीवाली) बन गई, क्योंकि विश्व के राष्ट्रों का संघ गुटबंदी, और उसके कारण पक्षपात में लीन हो रहा है। गुटबन्दी के कारण किसी राष्ट्र को न्याय देने में भी पैंतरेबाजी रची जा रही है।

इस प्रकार आजका साधुवर्ग विश्ववत्सल और विश्वबन्धु होते हुए भी विश्वप्रश्नों से उपेक्षा कर बैठा। आज तो साधुवर्ग समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए जो धर्मदृष्टि से उपयोगी एवं उसकी जिम्मेवारी के कार्य हैं, युगधर्म हैं, अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय प्रश्नों में धर्मदृष्टि देने के कार्य हैं, उन्हें नहीं कर रहा है और जो कार्य आज के युग के अनुकूल नहीं हैं, समाज, राष्ट्र और विश्व को आज जिन कार्यों की जरूरत नहीं है, जिन कार्यों से समाज पर उलटा आर्थिक बोझ पड़ता है या पूंजीवाद की, आडम्बर की और असत्य की पूजा-प्रतिष्ठा ही जिनसे प्राय: होती है, जिन कार्यों से स्वपर-कल्याण का कोई खास सम्बन्ध नहीं है, जिन कार्यों में अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्ति अधिकांशरूप में खर्च होती है, बदले में कोई मूल्य-परिवर्तन या क्रान्ति का कार्य हीं हो पाता; उन कार्यों को कर रहा है।

प्राचीनकाल के श्रमणों और संन्यासियों ने वैदिक युग की प्रचलित कुरूढ़ियों के खिलाफ काफी क्रान्ति का कार्य किया। (१) वैदिकधर्म के नाम पर जातिपांति, छुआछूत और मानव-मानव-भेद उग्ररूप से चल रहा था, मनुष्यों का अपमान और शोषण हो रहा था, पशुओं की बलि दी जाती थी, नारी-जाति को तुच्छ समझा जाता था, स्त्री-पुरुषों को गुलाम बना कर खरीदने-बेचने और उनसे मनमाना काम लेने की क्रूर प्रथा थी, इसके विरुद्ध श्रमणों और कुछ संन्यासियों ने क्रान्ति की और अनेक तरह से जनता के साथ न्याय कराया। (२) इस क्रान्ति के लिए आवश्यक साहित्य का निर्माण किया गया तथा इस क्रान्ति की सुरक्षा और प्रचार-प्रसार के लिए

[illegible]

आज तो जातिभेद और छुआछूत के कारण तथा रंग, भाषा एवं प्रान्तभेद के कारण मानव—मानवभेद और भी बढ़ गया है, किन्तु साधुसंस्था इसे धर्मका रूप देकर पहले जितना ही उपेक्षा किए बैठी है। इसलिए कोई उल्लेखनीय क्रान्ति नहीं कर पा रही है। नारी-जाति को कानूनन समानाधिकार मिल चुका है, किन्तु साधुसंस्था में अब भी भेद-भाव कायम है, गुलामीप्रथा समाप्त हो चुकी है, सतीप्रथा कानूनन बन्द हो चुकी है। उसके स्थान पर बहिनों के अग्निस्नान, आत्महत्या की घटनाएं आए दिन होती हैं, किन्तु साधुवर्ग इसके लिए कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं कर रहा है। पुराना साहित्य उस युगके अनुरूप था, वह अधिकांश तो युगबाह्य हो चुका है, परन्तु साधुवर्ग प्रायः पुराने साहित्य पर ही आधारित है और उसी पर अपनी कलम चलाता है, जिनकी कि आज समाज या राष्ट्र को कोई खास जरूरत नहीं या जिससे समाज या राष्ट्र की कोई गुत्थी सुलझती नहीं। उलटे, पुराने साहित्य से आक्रामक राजाओं धनिकों, और पुरानी रूढ़ियों का ही पोषण होता है। इसलिए पुराने साहित्य की सुरक्षा का अब कोई खास मूल्य नहीं रहा। और अब तो प्रींटिंगप्रेस हो जाने से अच्छे-बुरे, मरे-जिन्दे सब तरह के साहित्य के मुद्रण की व्यवस्था गृहस्थवर्ग कर ही देता है, जिससे कण्ठस्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। संघ- [illegible]

रखनी चाहिए या अमुक युगबाह्य, दम्भवर्द्धक, विश्वासघातक या सिद्धान्त-बाधक बने हुए नियमोपनियमों या परम्पराओं में जो द्रव्यक्षेत्रकाल-भावानुसार योग्य संशोधन-परिवर्द्धन करना चाहिए, वह प्रायः नहीं हो पा रहा है। उलटे साधुवर्ग स्वयं भी रूढ़ियों का गुलाम बना हुआ है, जनता को भी रूढ़ियों की गुलामी में फंसाए हुए है। समाज की नैतिक चौकी और प्रेरणा का काम तो प्रायः छूट ही गया है. सिर्फ अपने धर्मस्थानों में अमुक वर्ग के सामने पुराने ढर्रे के और अनावश्यक व्याख्यान, जिनसे पुराने मूल्यों में जरा भी परिवर्तन नहीं होता, साधुवर्ग देता है। अपने ध्येय का भान व सिद्धान्त-रक्षा भी धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। बल्कि यों कहना चाहिए कि किसी भी जिम्मेवारी को लिये बिना, या पूरी किये बगैर साधुवर्ग समाज से अधिक से अधिक लेता है। बिगड़े हुए अनुबन्धों को सुधारने और जोड़ने का काम तो दूर रहा; उलटे वह प्रायः अनुबन्धों को बिगाड़ रहा है या धनिकवर्ग आदि से उलटे अनुबन्ध जोड़कर अपनी तेजस्विता, अपनी निःस्पृहता और अपनी साधुता को खत्म करने का प्रयत्न करता है। कष्टसहिष्णुता और स्वावलम्बन भी प्रायः या तो प्रदर्शन मात्र रह गये हैं या निष्प्रयोजन कष्ट सहे जाते हैं, निरर्थक तपस्याएँ की जाती है, जिनसे न तो समाज की शुद्धि ही होती है और उनके पीछे प्रदर्शन, आडम्बर व प्रतिष्ठालिप्सा होने से न वे आत्मशुद्धि में सहायक होती हैं। स्वावलम्बिता और निर्भयता के बदले आज का साधुवर्ग प्रायः अपने-अपने सम्प्रदाय के दायरे में बन्द होकर, साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डों की उधेड़बुन में लग कर, संकुचितता और साम्प्रदायिकता को अपना कर सम्प्रदायाश्रित हो रहा है। वह उस सम्प्रदाय में कोई क्रान्ति इसलिए नहीं कर पाता कि उसे अपने सम्प्रदाय का आश्रय छूट जाने का भय है, न वह निर्भयतापूर्वक अपने अनुयायियों को खरी बात कह सकता है। अधिकांश साधुसाध्वियों को शारीरिक और मानसिक रोग लगे हुए हैं, जिनके कारण उन्हें सम्प्रदाय

की और तथाकथित भक्तों की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि दवा-इंजेक्शनों का खर्च बिना धनिकों की गुलामी किए कैसे आए? खानपान पर भी प्रायः संयम नहीं है। मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में विकृति को दूर न कर के, शुद्धि का कार्य न करके, उदासीन बन कर विकृति को बढ़ने देने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वह मदद करता है। इस प्रकार आज की साधुसंस्था द्वारा आवश्यक क्रान्ति का कोई कार्य नहीं हो रहा है, जो कुछ भी कार्य वह करती है, वह अनुपयोगी और प्रायः अनिष्टकारक ही।

इस कारण आज साधुसंस्था समाज पर, राष्ट्र पर या विश्व पर भार-भूत हो रही है, इस बात में काफी तथ्यांश है ही। वर्तमान में राष्ट्र और समाज के नेताओं, शासकों और शिक्षितों की दृष्टि में साधुसंस्था बेकार है। क्योंकि उन्हें झुकाने वाला कोई उल्लेखनीय ज्ञानबल या त्याग-तपोबल साधुसंस्था में नहीं रहा। अधिकांश साधुवेषी गैरजिम्मेवार ज्ञानहीन, सेवाहीन, कर्तव्यच्युत बने हुए हैं। भिक्षाजीवी में जो निःस्पृहता निःस्वार्थता, योग्य स्वतंत्रता, निर्लेपता होनी चाहिए, वह आज नहीं रही, इसलिये साधुवर्ग की भिक्षा भी आज तेजस्वी, गृहस्थ लोगों के दिलों में अर्पणता और भक्ति जगाने वाली, व आकर्षणीय नहीं रही।

इसका परिणाम यह हुआ कि साधुवर्ग की इज्जत आज नष्ट हो-गई है। प्रायः सभी सम्प्रदायों के साधुओं की कोई न कोई दुर्दशा है। व्यक्तिगतरूप में किसी साधुविशेष की प्रतिष्ठा भले ही हो, पर समूचे सम्प्रदाय को वह गौरव प्राप्त नहीं है। उनमें व्यापक दृष्टि, ज्ञान और चारित्र्य की कमी होने पर भी भारत की भावुक जनता साधुवेष के बल पर अपने-अपने सम्प्रदाय के साधुओं को आदर-सत्कार देती है, आहारपानी देती है, कुछ साधुओं को लोगों के अन्धविश्वास के आधार पर पूजाप्रतिष्ठा मिल जाती है, उनकी दूकानदारी चल जाती है।

किन्तु आज के समझदार और पढेलिखे लोगों में साधुसंस्था के बारे में असंतोष फैल गया है। साधुवर्ग के प्रति उनके असंतोष के मुख्य कारण ये हैं-(१) अकर्मण्यता, (२) प्रच्छन्न चरित्र-हीनता, (३) यथेष्ट और युगानुकूल शिक्षण का अभाव (४) दम्भ। इनके सिवाय और भी कारण हो सकते हैं। मतलब यह कि इन सब कारणों में से साधुसंस्था न तो घरकी रही, न घाट की, इससे लोक और परलोक दोनों ही बिगड गये। वह प्रायः चौपट हो रही है।

इन सब बातों को देखते हुए साधुसंस्था बेकार ही नहीं हुई; समाज पर असह्य बोझ और बीमारी सी होगई। इसलिए कई लोगों का कहना है, जिनमें अधिकांश शिक्षित हैं कि साधुसंस्था में अब कायाकल्प करने की जरूरत है। कुछ उग्रवादी लोगों का कहना है कि ऐसी विकृत साधु-संस्था की अपेक्षा साधुसंस्था को नष्ट कर देना अच्छा। परन्तु वह समय कम दुर्भाग्य का न होगा जब असाधुओं के साथ-साथ सच्चे साधुओं की भी समाज में अप्रतिष्ठा हो जायगी। कई उग्रवादी लोगों का तो यहां तक कहना है कि साधुसंस्था सड गई है. मुर्दा बन गई है; उसे अब पुनर्जीवित करने का प्रयास निष्फल है। अगर साधुसंस्था में जान होती तो इस देश पर विदेशियों का शासन कैसे आसकता था? तथा बादमें गांधीजीने अहिंसा को राष्ट्रव्यापी स्वरूप दिया उस समय भी साधु-संस्था पीछे क्यों रह गई? अगर साधुसंस्था में कुछ भी सत्त्व होता तो विनोबाजी जैसे संतपुरुष पर ऐसी धर्मसंस्था के आदमी हरिजन प्रश्न के लिए हमला कर सकते थे? धर्म के नाम पर गांधीजी को गोडसे की गोली क्यों लगती? पं. जवाहरलाल नेहरू को आध्यात्मिकता के प्रति प्यार क्यों न बढ़ता? इसलिए साधुसंस्था अब निर्जीव होगई है उसे दफना देना चाहिए।

क्या साधुसंस्था की आवश्यकता है?

उपर्युक्त लोकस्वर को देखते हुए सहसा कोई कह सकता है कि

ने के लिए, जननिर्माण और जनजागृति के कार्य के लिए साधुसंस्था अलावा कोई संस्था पहुंच नहीं सकती। यद्यपि महात्मा गांधीजी के य में साधुसंस्था संस्थारूप से जाग्रत नहीं हुई, पीछे रह गई, किन्तु आशा है कि आज की विश्वक्रान्ति और विश्वशान्ति में वह दूत बन सकती है। एक बात जरूर है कि अगर देश और या में सत्य–प्रेम–न्यायरूपी धर्म की व्यासपीठ आज आवश्यक है तो धुसंस्था के सिवाय ऐसी अहिंसक क्रान्ति की नेतागीरी दूसरी किसी भी था के सभ्य नहा ले सकते। इससे यह निष्कर्ष निकला कि हमारे सी भी युग की अपेक्षा इस युगमें क्रान्तिप्रिय त्यागी साधुसाध्वियों की रत सबसे अधिक है। दुनिया के सभी शुभबलों को एकत्र करना हो, त् की मानवजाति को एकसूत्र में गूंथना हो, सत्यअहिंसामय संस्कारों मानवजाति का निर्माण करना हो तो भी योग्य साधुसाध्वियों की रत रहेगी ही।

आज जब कि भौतिक विज्ञान ने विश्वको बाह्यदृष्टि से नजदीक खड़ा किया है, विश्वकी मानवजाति विश्वशांति के लिए तरस रही युद्ध इसे अप्रिय लग रहा है, मेल इसे प्रिय लगता है, ऐसी दशा विश्व को आन्तरिक दृष्टि से अत्यन्त निकट लाने का काम अत्यन्त वश्यक हो गया है, और ऐसे समय में सारे विश्व की मानवजाति को व्यासपीठ पर बैठा सके तथा परस्पर मैत्रीभाव का अनुभव करा सके, सा कार्य साधुसंस्था के सिवाय और कौन कर सकता है?

विश्व को ऐसे क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों की तो हर युग में आवश्य- ता रहती है और रही है। आज जगत् का जितना विकास हुआ है, सके अधिकांश में साधुओं का ही हाथ है। भले ही उनमें से बहुतों ने धुवेष न लेकर भी साधुता का कार्य किया हो। परन्तु असाधारण क्ति ही साधुवेष लिए बिना ही साधुता का परिचय दे सकते हैं। योंकि सामान्य व्यक्ति गार्हस्थ्य और साधुत्व दोनों की जिम्मेवारी एक

साधु की जिम्मेवारी कितनी हो सकती है? यह हम स्वयं सोच सकते ? एक संभ्रान्त मातापिता भी अपनी संतान की जिम्मेवारी को पालन नेके लिए कितने जागृत, विवेकशील, व सावधान रहते हैं, और का आने पर संतान की रक्षा के लिए अपना प्राण देने तक को तैयार जाते हैं। संतान उलटे रास्ते जाता हैं तो उसे प्रेम से सीधे रास्ते लाने की कोशिश करते हैं, स्वयं भूखे रह कर, कष्ट सहकर बालक सुरक्षित रखते हैं, सुसंस्कारी बनाते हैं। तब जिसने विश्व के माता-ता और रक्षक बननेकी जिम्मेवारी ली है, क्या वह विश्व की गति धि से आंखें मूंद सकता है? विश्व के सभी प्राणियों की रखवारी और तिक चौकीसे दूर रह सकता है? विश्वकी मानवजाति और अन्य णिवर्ग की शुद्धि और धर्म-प्रेरणा से उपेक्षा कर सकता है? विश्वसे दासीन रहकर बैठ सकता है? व्यक्ति, समाज और समष्टि का अहित ते देख कर, अनिष्टमार्ग-प्रयाण होते अपनी आंखों के सामने देख-र क्या नैतिक धार्मिक प्रेरणा देने और उस बिगडे हुए अनुबन्ध को डने में एक क्षणभर भी प्रमाद कर सकता है? बल्कि साधुसाध्वियों की जम्मेवारी तो यहां तक है कि जैसे माता-पिता अपने बालक के प्राण बचाने के लए अथवा सुधारने के लिए स्वयं के जानमाल तथा प्रतिष्ठा तक को होमने के लिए तैयार हो जाते हैं, वैसे ही वे विश्व की आत्मरक्षा-विश्वकी धर्मरक्षा और प्राणरक्षा के लिए अपने प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह की कुर्बानी करने को तैयार रहें। समाज पर ऐसे संकट आएँ, शीलधर्म खतरे में पडने लगे, उस समय अपने प्राणोंकी बाजी लगाने के विष्णुकुमार मुनि, कालकाचार्य आदि के सैकडों उदाहरण जैन इतिहास में प्रसिद्ध हैं। धर्मरक्षा के लिए और सिद्धान्तसुरक्षा के लिये धर्मरुचि अनगार, हरिकेशी मुनि आदि के उदाहरण भी जैनजगत् में प्रसिद्ध हैं। अगर ये सब श्रमण, साधु, संन्यासी विश्वप्रश्नों एवं समाज की समस्याओं को लेकर उन्हें धर्मदृष्टि से हल नहीं करते या समाज की

क्या इस प्रकार के लोकपालन के उत्तरदायित्व को भूलकर विश्व-पूज्य, विश्वबन्धु साधुवर्ग इधर-उधर की संकीर्ण परिधि में बन्द हो सकता है ?

आज जब कि भारत में लोकतंत्रीय शासन है और विश्व में इसी शासन को सर्वोत्तम मानकर उसकी जोरदार मांग हो रही है; और लोकतंत्रीय शासन में एक ओर से जनताका निर्माण और दूसरी ओर से राज्य निर्माण न हो तो दोनों में अशुद्धि प्रविष्ट होनेकी आशंका है। ऐसे मौके में साधुसंस्था की जवाबदारी यही हो जाती है कि राज्य और प्रजा दोनों का धर्मदृष्टि से निर्माण करे। अन्यथा, समाज, राष्ट्र और विश्व में सर्वप्रथम छोटी-सी दिखाई देनेवाली बुराई के प्रति जनता और धर्मगुरु दोनों की उपेक्षा एक दिन बुराई विग्रह, द्वेष महायुद्ध जैसे भयंकर परिणामों को ला सकती है। ऐसी भयंकर लड़ाई महायुद्ध या विग्रह के समय साधुवर्ग अपनी जिम्मेवारी भूलकर अपने में ही मस्त रहा तो उसकी मस्ती या साधना कितने दिन टिक सकेगी भयंकरता उपस्थित होने पर एकाएक प्रयत्न से कुछ भी नहीं होगा फिर तो आग लगने पर कुए खोदने जैसा ही वह कार्य निष्फलसा होगा

आज के समन्वय के युग में तो साधुसंस्था की जिम्मेवारी और बढ जाती है कि वह शीघ्र से शीघ्र सभी धर्मों का समन्वय करे, विज्ञान राजनीति, अर्थनीति आदि के साथ धर्मका समन्वय करे, सारे विश्व साथ अनुबन्ध जोडे और बिगडे हुए अनुबन्धों को सुधारे, सुधरे हुए अनुबन्धों को सुरक्षित रखे।

इसी प्रकार युगधर्म को पहिचान कर विज्ञान के द्वारा स्थूल दृष्टि निकट लाए हुए विश्व को आन्तरिक दृष्टि से निकट लाने का भगी प्रयत्न करे, इसीमें उसकी साधुता सार्थक है।

कुछ साधुलोग इसी भरोसे मस्त हैं कि दुनिया में सैंकडों आ और गए पर हम तो ज्यों के त्यों हैं। ऐसे लोग न भीतरी आंखों

आदि बढ रहे हैं, वहां उन्हें समझाबुझा कर, विचारप्रचार द्वारा, लेखन द्वारा, मध्यस्थप्रथा द्वारा, शुद्धिप्रयोग द्वारा तथा अन्त में शान्तिसेना आदि द्वारा रोकना है, दूर करना है और समभाव व समन्वयमार्ग को प्रत्यक्ष साधना करने-कराने का प्रयत्न करना है, जनता के दिलों को जोड़ने का कार्य करना है।

(४) जहां-जहां शोषण, अन्याय, अत्याचार, अनीति आदि पनप रहे हैं वहां मध्यस्थप्रथा, शुद्धिप्रयोग व. द्वारा उन्हें दूर करना है। समाज में पुराने मूल्य परिवर्तित करने है। नये मूल्यों को प्रतिष्ठा देना है, स्थापित करना है।

(५) समाज, जाति, धर्म, सम्प्रदायों में अन्धविश्वासों एवं कुरूढियोंकी गुलामी अत्यधिक है, इसे दूर करना है।

(६) देश की और विश्व की सांस्कृतिक समस्या को हल करना है; एक मानवता का निर्माण करना है।

(७) व्यक्ति, समाज और समष्टिरूप विश्वप्राणियों की निवृत्ति-प्रवृत्ति की सच्ची समतुला रखने का कार्य अनासक्तिपूर्वक करना है।

(८) लोगों का चारित्र्यबल गिरा हुआ है। बेईमानी, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, अन्याय, शोषण आदि जगह-जगह चल रहे हैं, सरकार अकेली इस बारे में कुछ कर नहीं पा रही है; क्योंकि सरकारी कर्मचारी भी जनता में से ही आते हैं। इसे रोकने की जवाबदारी धर्मगुरुओं की है, जिसके लिए उन्हें व्यवस्थित प्रयत्न करना है।

(९) जनतंत्र आ गया है, पर वह जनता को पच नहीं पा रहा है; उसे पचाने की शक्ति व उसके अनुरूप विवेक जनता में पैदा करना है। सरकार कोई गलत कदम उठाए तो एक ओर उसके प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए, दूसरी ओर उस पर नैतिक दबाव डाल सकें, उसे प्रेरणा दे सकें, अंकुश में रख सकें इस तरह के जन-संगठन और लोकसेवक-संगठन दोनों तैयार करते हैं, दोनों का निर्माण करना है।

जनता को देश की राष्ट्रीय महासंस्था की खूबियां समझा कर मतप्रदान के लिए तैयार करना है।

(१०) पिछडी जातियों, शोषित, पीडित और पददलित मानवों की उन्नति के लिए प्रयत्न करना है, उन्हें अपना कर उनमें सुसंस्कार डालने हैं। स्वयं साधुवर्ग इनमें से निर्मासाहारी लोगोंके यहां 'भिक्षा जाय, इन्हें उपदेश दे; इन्हें सभाओं में, धर्मस्थानों में बराबर का स्थान दिलाए और इस तरह उनके साथ अनुबंध जोडे।

(११) समाज में हर एक धंधे, व्यवसाय या कार्य के पीछे सेवा और भक्ति की भावना रहे, यह बात जनता को सिखानी है।

(१२) शिक्षण क्षेत्र निर्जीव और निरर्गल हो गया है। शिक्षकों को वेतन से मतलब है। विद्यार्थियों को किसी तरह से परीक्षा पास करने से मतलब है। सेवा, सदाचार, विनय आदि के संस्कार नष्ट हो गए हैं, इसलिए शिक्षा के क्षेत्र को सजीव बनाने की जरूरत है।

(१३) शारीरिक मानसिक दृष्टि से लोग स्वस्थ रहें, स्वच्छतापूर्वक रह सकें, इसके लिए मार्गदर्शन देना है।

(१४) मानसिक खेद, रोग, शोक, दुःख आदि में सहानुभूतिपूर्वक सान्त्वना देना एवं जनता को सक्रिय कर्मयोगका पाठ पढाना है।

(१५) अज्ञानता, स्वार्थपरता, असंयम, असभ्यता तथा अन्य दुर्गुणों के कारण गृहस्थों का कौटुम्बिक जीवन कलहपूर्ण, खर्चीला, [illegible] व असंतुष्ट बना हुआ है, वहां आत्मीयता के साथ मार्गदर्शन की जरूरत है।

(१६) प्रजातंत्र का ढांचा खूब फैलता जा रहा है, गांव-गांव में पंचायतें, सहकारी मंडलियां तथा अन्य प्रवृत्तियां सरकारीतंत्र द्वारा चलाई जाती हैं। पर इससे गांवों का जीवन और भी अधिक छिन्नभिन्न, [illegible] और द्वेषपूर्ण हो रहा है क्योंकि इनमें योग्य प्रभावशाली कार्यकर्ताओं का अभाव है।

इन वर्गों को साधु-साध्वी अपनी योग्य प्रेरणाशक्ति व प्रभावसे दूर करवा सकते हैं। जगह-जगह ग्रामसंगठन के योग्य प्रतिनिधि नियुक्त करवा कर इनमें फैलनेवाली बुराइयों को दूर करवा सकते हैं।

(१७) नारीजाति को बुद्धिपुष्ट, गौरवशाली व विवेकिनी बनाना है। वह किसी भी प्रकार के किसी भी क्षेत्र में होनेवाले अन्याय अत्याचार, व शोषण का शिकार स्वयं न बने और उक्त अन्यायादि का अहिंसक प्रतीकार कर सके, इस तरह की शक्ति उसमें पैदा करना है।

(१८) आर्थिक विषमता अमर्यादित न हो जाय; बेकारी, भुखमरी आदि बढ़ने न पाए; इसके लिये सहयोग, न्याय और सामाजिक समानता की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना है, श्रमजीवियों को प्रतिष्ठा देना है।

(१९) विश्व में सत्य, प्रेम, न्याय मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में सतत प्रचलित रह सकें, इसी प्रकार का सतत चिन्तन एवं कार्य करना है। अर्थात् सत्य, प्रेम न्याय की प्रतिष्ठा बढ़ानी है, धन, भोगविलास तथा भौतिक तत्वों की प्रतिष्ठा न बढ़ जाय की इसकी सतत चौकसी रखनी है।

(२०) कौमी दंगों, उपद्रवों या अन्य तूफानों के समय साधु-साध्वियों को स्वयं वहां के मोहल्ले-मोहल्ले में निर्भयता से घूम कर लोगों को आश्वासन देना है, शान्ति स्थापित करना है और ऐसा करने में प्राणों की बाजी लगा देना है, तथा ऐसे मरजीवा शान्तिसैनिकों को तैयार करके विभिन्न राष्ट्रों तथा राष्ट्र के भीतर भी कहीं दंगे हों तो भेजना है।

(२१) सभी धर्मों का योग्य समन्वय करके धर्मों के भीतरी वैमनस्य कुरूढ़ियों आदि को मिटाकर, विभिन्न धर्मानुयायियों में परस्पर प्रेमभाव फैलाना है।

इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक,

णिक आदि हर क्षेत्र में जनता को धर्मदृष्टि से मार्गदर्शन एवं प्रेरणा देना, निरन्तर सेवा करना आदि ये और अन्य साधुसाध्वियों के लिए ऐसे कार्य हैं, जो साधुता की मर्यादा में किसी भी प्रकार का नुकसान पहुंचाने वाले नहीं हैं; अपितु फायदा पहुंचाने वाले जरूर हैं।

असफलता के कारण

आज भारतवर्ष में लाखों की संख्या में साधुसाध्वियों, व संन्यासियों होते हुए भी उपर्युक्त कार्य उनके द्वारा प्रायः नहीं हो रहे हैं। इन लाखों साधुसाध्वियों में हजारों की संख्या में अच्छे साधुसाध्वी भी होंगे, फिर भी समाज, राष्ट्र या विश्व की उनके द्वारा कोई खास उन्नति, कल्याण या प्रगति नहीं हो पा रही है, राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा और अन्याय को दूर करने के लिए कोई ठोस प्रयत्न प्रायः नहीं हो रहा है। विश्व की समस्याएँ ज्यों की त्यों उलझी हुई रहती हैं। विश्व के प्रश्नों में धर्म का रंग भरने में साधुसंस्था असफल-सी हो रही है। इस असफलता के कई कारण हैं। मुख्य कारण ये हैं :—

(१) अच्छे-अच्छे साधुसाध्वियों में व्यापक, सर्वांगी एवं स्पष्ट दृष्टि का अभाव है। एक वल्ब चाहे कितने ही कैंडिल पावर का हो, यदि कोठरी में बन्द कर दिया जाता है तो उसके प्रकाश से पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसी प्रकार किसी साधुसाध्वी में आध्यात्मिक दृष्टि चाहे कितनी ही ऊँची हो, किन्तु उसे जब साम्प्रदायिकता या संकीर्णता की कोठरी में ही बन्द कर दी जाती है, तब उस दृष्टि के प्रकाश से विश्व कोई लाभ नहीं उठा सकता। जब साधक की दृष्टि संकीर्ण हो जाती है, तब वह अपनी मान्यता को अपनी रुचिरूप या एक नवीन किरण के रूप में न मानकर उसीको सम्पूर्ण मान लेता है और उसी में स्वयं फंस जाता है तथा सारे जगत् को फंसाने का प्रयत्न करता है। बुद्धिमान और सयाने माने जाने वाले साधकों की बुद्धि के द्वार बंद होने का मूल कारण भी यही है। दिल और दिमाग के दरवाजे

चीनता की दुहाई देकर या भूतकाल के गीत गाकर साधुसाध्वी वर्तमान
समझने की चेष्टा नहीं करते। इससे स्वयं की प्रगति भी रुकती है
र समाज, राष्ट्र व परम्परा से विश्व की भी। हम भूतकाल के साथ
म्बन्धविच्छेद नहीं कर सकते। उससे सार ग्रहण न करके द्रव्यक्षेत्र-
लभाव के अनुरूप विचार नहीं किया जाता है, एवं युगसमस्याओं
भूतकाल की दृष्टि से ही सुलझाया जाता है तो निष्फलता मिलती है।

(४) प्रायः सभी भारतीय साधुसंस्थाओं में यह मान्यता घर कर
ई है कि 'हमें संसार से क्या लेना–देना? संसार तो खराब है,
सके कार्य में हम नीति–धर्म की प्रेरणा देने लगेंगे तो हममें भी
सार की अशुद्धि आ चिपकेगी। लोकसम्पर्क में रहने से तो मोक्ष हो
नहीं सकता। हमें समाज के प्रश्नों को हल करने के पचड़े में क्यों
इना चाहिए।' इस प्रकार कहकर अधिकांश साधुसाध्वी संसार से
ागने का ढौल करते हैं और जंगल में, एकान्त में या कहीं दूर जाकर
ासन जमाने का प्रयत्न करते हैं, एकान्तसेवी बनने का प्रयास करते हैं,
ागसाधना में लगते हैं; विश्व, समाज और राष्ट्र के विविध उलझन-
रे प्रश्नों की तरफ उपेक्षा कर बैठते हैं, मानवजीवन के सभी क्षेत्रों
आई हुई अशुद्धि, विकृति आदि को देख कर घबराते हैं, उससे
र भागने का प्रयत्न करते हैं, उससे उदासीन रहते हैं, और इसी
अपनी साधुता का विकास मानते हैं; किन्तु यह एक बहुत बड़ी
ान्ति है। ऐसे लोग संसार से दूर भी भाग नहीं सकते, आहारपानी
ादि के लिए तो बस्ती में आना ही पड़ता है, अथवा ऐसे लोग महा-
रिग्रहवादियों की पकड़ में आकर उलटे संसार में अधिक फंसते हैं।
सार को खराब कह कर भागनेवालों का न तो अपना आत्मविकास
ता है और न जगत् की अशुद्धि को वे दूर सकते हैं। नतीजा यह
ोता है कि जगत् की अशुद्धि अधिक बढ जाती है, जो उनकी भी
ाधना को भ्रष्ट कर बैठती है। जो साधक जगत्‌रूपी महासागर से

दलित या तिरस्कृत जातियों में अहिंसा की भावना जगाते हैं, या उनकी दृष्टि एकमात्र पशुदया की ओर है, मानवजीवन के अन्य क्षेत्रों के प्रायः वे छूते ही नहीं। अथवा उनकी दृष्टि अनेकांगी है। वहीं वे धार्मिकक्षेत्र में सभी धर्मों के समन्वय करनेका ही प्रयास करते हैं या प्रायः शहरी लोगों में नीति-धर्म के निषेधात्मक व्रतों या नियमों का प्रचार करते हैं नीतिधर्म के आधारपात्र गाँवों में उनकी ओर से कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं होता। इसलिए विश्वविशाल अनुबन्ध जोड़कर जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वांगी दृष्टि से कार्य करने पर ही सफलता के दर्शन हो सकते हैं।

(२) अच्छे-अच्छे साधु-साध्वियों में आज की समस्याओं को, विश्व के घटनाचक्रों को ठीक तरह से समझने, सोचने और धर्मदृष्टि से हल करने लायक ज्ञान नहीं है। या तो उनका शिक्षण बहुत साधारण है अथवा जो कुछ है, वह सिर्फ प्रायः अपने सम्प्रदाय के पुराने धर्मग्रन्थों का है। जब तक आज के लिए उपयोगी अनुबन्धदर्शन, भूगोल, इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, विज्ञान आदि का ठीक मात्रा में ज्ञान न हो तब तक ज्ञानकी पुरानी पूंजी से काम नहीं चल सकता। युगानुरूप यथायोग्य नैतिक धार्मिक प्रेरणा देने, शिक्षित समुदाय में अपना स्थान बनाने, विश्व की समस्याओं को समझकर धर्मदृष्टि से हल करने के लिए अब पुराने ढंग के साम्प्रदायिक व्याख्यानों, या लेखों से काम नहीं चलेगा। यह भी असफलता का बड़ा कारण है। ध्येयलक्षी जनसम्पर्क से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है और समाज को नीतिधर्मलक्षी बनाना ही आज का सामूहिक चारित्राराधन है।

(३) अधिकांश साधुसाध्वी राष्ट्र, समाज या विश्व की उन्नति के लिए भूतकाल को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हैं। परम्परा भले ही पुरानी हो, लेकिन उसमें युगानुरूप इतनः अधिक कांटछांट और मिश्रण हुआ है कि उसका रूप, रंग, स्वाद सभी बदल गए हैं। इसलि

क माना नहीं जा सकता। उलटे, समाज की अशुद्धियां देख कर उन्हें दूर करने के लिए कूद पडेगा। हां, वह अपनी शुद्धि रों पर नहीं लादेगा। समाजशुद्धि के लिए भी प्रथम अन्तरात्मा टटोले; कभी अपनी शुद्धि के लिए एकान्तसेवी भी बने, किन्तु ाज की अशुद्धियों के प्रति आंखें मूंदकर, स्वयशुद्ध हो गया है, ऐसा ने आपको समाज से अलग रखकर वह सोच ही नहीं सकता। और तव में साधककी अपनी शुध्धि का सच्चा नाम भी यही है कि अपने मित्त से समाज में कितनी शुध्धि हुई है, अन्यथा आत्मशुध्धि की उसकी मान्यता में या तो दोष हैं; या अपूर्ण शुद्धि को शुद्धि मान (झूठा संतोष किया जा रहा है। साधुसाध्वियों व ऋषिमुनियों के त्याग व आदर भी तभी तक टिकते हैं, जब समाज, राज्य और र्मतंत्र तीनों में व्यवहारशुध्धि हो। इन तीनों में अशुध्धि हो तो धुसाध्वियों में भी अशुध्धि प्रविष्ट बिना हुए नहीं रहती। असल में विरकल्पी साधक की सच्ची साधना का रहस्य भी यह है कि समाज बीच रहता हुआ भी वह निरासक्त व निर्लेप रहकर (अशुद्धियों ा अपने में न आने देकर) समाज, राष्ट्र या विश्व के कार्यों में ार्मिक प्रेरणा दे। इस तरह उसका आत्मकल्याण और परकल्याण दोनों

रह नहीं सकता, इसी प्रकार समाज, राष्ट्र, और विश्व में गंदगी र वह शुध्दि करने का प्रयत्न किये बिना न रहेगा। यह ठीक है है वह अभिमान या अहंकार नहीं करेगा कि समाज, राष्ट्र या ं शुध्दि करता हूं या मैं सुधारता हूं। इसलिए स्वयं के व सच्चे हत के लिए भी अन्यसुधार की प्रवृत्ति में रस लिए बिना कोई नहीं है।

'दूसरों की सेवा करने में पाप है', इस मान्यता में दोष यह दूसरों की सेवा करने में हम निःस्वार्थ भाव से, निरहंकार वृत्ति से हैं, जिससे आत्मा की सेवाशक्ति या दयाशक्ति का विकास होता है, ात्मा को आत्मा को ऊँचा उठानेवाली है, उसे भी पाप मान जाता है, जो वास्तव में धर्म है या कुछ अंश में स्वार्थ हो तो है। मनुष्य ऊँचा उठता है तो वह दया या सेवा के बिना जी हीं सकता। अलबत्त इस दया या सेवा मे अभिमान, स्वार्थ या र न होना चाहिए। और यह तभी हो सकता है, जब साधक ा या परसेवा को स्वदया और स्वसेवा ही समझे। दूसरों की करने या दया करने से कुदरत की योजना में हस्तक्षेप नहीं होता समन्वय ही होता है, बशर्ते कि अन्यसेवा, परकल्याण या ा में आत्मभान जागृत रहे। दूसरे शब्दों में कहें तो जिसे दूसरों को सेवा, दया, उपकार, कल्याण, सुधार आदि कहते हैं, दूसरों की सेवादि नहीं, किन्तु अपनी ही साधना है।

पर आज का साधुवर्ग प्रायः इस बात को भुला बैठा है। वह मानता है कि गैरजिम्मेवार बन कर, संसार की ओर से आंखें कर, अकर्मण्य बन कर बैठ जाना ही साधुता है, आत्मोद्धार परन्तु आत्मोद्धार या आत्मविकास भी उसी का होता है, जो निःस्वार्थभाव से निरहंकारितापूर्वक जनसेवा करता है। खा पीकर

वेफिक्री से पड़े रहने, मनचाहे घूमते रहने, भगवान् का कोरा जप देने, या उटपटांग व्याख्यान झाड देने, या शरीर को व्यर्थ देने या जगत् से अच्छा से अच्छा और ज्यादा से ज्यादा ले बदले में कुछ नहीं देने का सोचने या कम से कम देने का। आत्मोद्धार या आत्मविकास नहीं है। जिन अवतार, तीर्थंकर पैगम्बर आदि का वे नाम जपते हैं, वे नाम जपने लायक इस हुए थे कि उन्होंने जगत् की निःस्वार्थभाव से, स्वयं कष्ट सह सेवा की थी। इसलिए भगवान् की भक्ति भी समाज (संघ) या ति के साथ विश्वविशाल अनुबन्ध नहीं जोडकर सतत जनसेवा को छोड़ नामजप, अध्यात्म, योग या आत्मोद्धार की बातें करने मात्र नहीं होगी, अपितु निःस्वार्थ जनसेवा से ही प्रभुभक्ति होगी।

दूसरी बात यह है कि साधक का जीवन सारे विश्व के स सम्बन्द है तो अहिंसा-सत्यादि गुणों की सामूहिकसाधना भी उ व्यक्तिगत साधना होकर व्यक्तित्व का विकास करनेवाली होगी। अपने व्यक्तित्व को विश्व में समर्पित करके निरासक्तभाव से ह करेगा, तभी साधना सफल हो सकेगी। क्योंकि जैनशास्त्रों जगह-जगह जैन साधुसाध्वियों से तो धर्मदृष्टिसे मार्गदर्शन, प्रेरणा रह की 'धम्मो कहिस्रो, इस सूत्र द्वारा विशेष अपेक्षा रखी गई आत्मकल्याण के साथ-साथ समाजकल्याण में इससे कोई बाधा आती। और सबको अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप योग्य मार्ग प्रेरणा आदि मिल जाते हैं। अतः मानसिक समता रखकर अ भाव से द्रव्यक्षेत्रकालभाव देखकर योग्य मार्गदर्शन करना तो धर्मो मुनियों का धर्मकार्य है और ऐसा करने से संसारबन्धन अतः सकते हैं। तथा आत्मकल्याण और समाजकल्याण दोनों क सम्बन्ध साध सकता है।

'स्व, को पहिचानने और 'पर' को छोड़ने का रहस्य भी

है कि वह प्राणिमात्र के साथ अपना अनुबन्ध विचार कर प्राणिमात्र की उन्नत सेवा में अहोरात्र लगा दे; अन्याय, अनीति, अधर्म, हिंसा, आदि का अहिंसक प्रतीकार करने के लिए अपने शरीर का भी मोह छोड़ कर विश्वात्मा को जगाए तथा परभावरूप जो आसक्ति, अहंकार, क्रोध, ज्ञानाभिमान, परिग्रह, प्राण, प्रतिष्ठा आदि का मोह, सम्प्रदाय-मोह, स्वत्वमोह आदि हैं, उनको छोड़कर विश्वकुटुम्बी अथवा सर्व-धर्मोपासक बने। ऐसा आचरण न हो तो वह आत्मज्ञान नहीं, आत्म-वंचना है, या और कुछ है, जो पतन के मार्ग पर ले जानेवाला है।

कतिपय साधकों को आत्मज्ञान का झूठा संतोष व अभिमान हो जाता है, वे अपने को आत्मज्ञानी होने का दावा करते हैं और इस लिए वे कहा करते हैं कि दूसरों के लिए अब उन्हें कुछ करना नहीं रह गया है। यह भी एक भ्रान्ति है। सच्चा आत्मज्ञानी होगा वह समस्त प्राणियों के साथ अभेदभाव से बरतेगा, एक भी अशुद्ध व्यवहार नहीं करेगा, स्वयं रूखासूखा खा कर या टूटेफूटे झोंपडे में रह कर दूसरों को अच्छी वस्तु पहले मिले, ऐसा व्यवहार करेगा, स्वयं कष्ट सहेगा, अन्याय के सामने प्राणों को होमने के लिए तैयार रहेगा; प्रत्येक विषम प्रसंग में समताभाव में रहेगा, समाज के सभी शुभबलों को सांध कर उन्हें नैतिक धार्मिक प्रेरणा देगा, आत्मज्ञान का चेप लगाएगा। पर वह स्वयं आलसी, अन्यायी, अशुद्धव्यवहारी नहीं बनेगा और दूसरों को भी बनने से रोकेगा।

इस प्रकार की स्पष्ट दृष्टि होने पर ही साधुवर्ग उपर्युक्त निरवद्य कार्यों में सफल हो सकता है।

(६) कई साधुसाध्वियां यह कहा करते हैं, हम आध्यात्मिक व्यक्ति होकर भौतिकजीवन के बारे में प्रेरणा या मार्गदर्शन कैसे दे सकते हैं? क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक ये दोनों अलग क्षेत्र हैं। इसी प्रकार कई साधु लौकिकधर्म और लोकोत्तरधर्म ऐसे दो भेद

इसी प्रकार लौकिकधर्म और लोकोत्तरधर्म को भी दो तरह बताना जनता को भ्रान्ति में डाल कर अपना उल्लू सीधा करना है। जहाँ अपनी सेवा की बात आए वहाँ लोकोत्तरधर्म और जहाँ दूसरों की सेवा का प्रसंग आए, वहाँ लौकिक धर्म इस प्रकार लेने में २६ इंच का गज और देने में २२ इंच का गज, यह स्वार्थवृत्ति है, आध्यात्मिकता या लोकोत्तरता नहीं है। जैनधर्म में इस प्रकार धर्म के दो प्रकार करके लोगों को गुमराह नहीं किया गया है। और अन्य धर्मों में भी इस प्रकार के लौकिक-लोकोत्तर धर्म नहीं बताए गए हैं। इसलिए इस भ्रम को निकाल देना चाहिए।

इसी तरह आध्यात्मिक मनुष्य भी व्यवहार किए बिना रह नहीं सकता। जब वह अपना व्यवहार शुद्ध कर सकता है, तो दूसरों को प्रेरणा या सदुपदेश देने पर, मार्गदर्शन देने पर वह अपने व्यवहार को शुद्ध या आध्यात्मयुक्त क्यों नहीं कर सकता? आत्मा जब तक शरीर के साथ बंधा हुआ है, तब तक अहिंसासत्यादि आध्यात्म-गुणों की साधना व्यवहार में आए बिना कैसे रह सकती है? समाज, राष्ट्र या विश्व में ऐसे आध्यात्मिक को शुद्ध व्यवहार के लिए आत्मगुणों की प्रेरणा, सुझाव, मार्गदर्शन वगैरह करना ही चाहिए। अन्यथा वह सच्चा आध्यात्मिक नहीं है, आध्यात्मकी खाली बातें करता है। ऐसा व्यक्ति साधना को सफल नहीं कर सकता।

कोई भी साधक प्रवृत्ति किए बिना एक क्षण भी नहीं जी सकता, तब यह कहना कि हम प्रवृत्ति नहीं करते, कितना दम्भ है? साधुओं के व्याख्यान, विहार, भिक्षाचरी, आदि सब क्रियाएँ प्रवृत्ति नहीं है तो क्या है? भगवान् महावीर ने जो साधुसंस्था निर्माण की थी, उसके नियम तथा चरित्र-चित्रण पढकर कई साधकों को यह भ्रम हो जाता ... धर्म निवृत्तिवादी धर्म है। परन्तु अगर हम थोडासा भी

विचार करेंगे तो हमें मालूम होगा कि भगवान् महावीर घोर शक्ति-शाली श्रमण थे। अन्यथा वे इतनी बड़ी संस्था का निर्माण कैसे कर सकते थे? लोकसंग्रह करना और मेंढकों को तोलना करीब-करीब समान है। तराजू के पलड़े पर एक मेंढक को रखो तो दूसरा उछल जाता है, यही हाल लोकसंग्रह का है। फिर भी महावीर लाखों मनुष्यों का संग्रह कर सके तो क्या उनका यह कार्य किसी गुफा में आँख बन्द करके बैठे-बैठे हो गया? क्या इसके लिए उन्हें उग्र विहार नहीं करना पड़ा, पग-पग पर ठोकरें नहीं खानी पड़ीं, दिन-रात उन्हें [illegible] की चिन्ता नहीं करनी पड़ी? भ. महावीर ३० वर्ष की उम्र में घर से निकले और लगातार १२॥ वर्ष तक विभिन्न देशों में विचरण करते रहे, क्या आप समझते हैं कि वे निष्क्रिय बन कर बैठे रहे? उनके मन में विचारों का तूफान नहीं चला होगा? उनकी आँखों पर मानव के [illegible] और [illegible] की [illegible] देखने में [illegible] नहीं और [illegible] ही उन्हें निराश और [illegible] का [illegible]

असंजमे निवत्ति च, संजमे य पवत्तणं'
'साधक जीवन कभी विरत होता है, कभी अविरत।
अर्थात् असंयम से उसको निवृत्ति होती है और संयम में प्रवृत्ति।'
समिति शब्द का तात्पर्य भी जीवन की सभी प्रवृत्तियों से है
और गुप्ति का निवृत्ति से। किन्तु वहां भी एकान्त प्रवृत्ति या एकान्त
निवृत्ति इष्ट नहीं है। जैनग्रंथों में चारित्र का लक्षण भी अशुभ
से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति बताया गया है। जैन सिद्धान्त तो
स्पष्टतया कहता है कि प्रवृत्ति की जाय, पर आसक्ति से नहीं,
जो कुछ किया जाय वह यतनापूर्वक, अनासक्तिपूर्वक दोषत्यागपूर्वक
किया जाय। त्याग या निवृत्ति का विधान है; पर वह दोष से
निषेध का है, न कि प्रवृत्तिमात्र से। वास्तव में महापुरुषोंने स्वार्थ
आसक्ति, मोह आदि से निवृत्ति का कहा था, किन्तु साधुसंस्था
सत्प्रवृत्तियों से भी दूर भागने लगी; सचमुच यह समाज का दुर्भाग्य
था। साधुसंस्था की निवृत्ति प्रवृत्ति के लिए है। यानी निवृत्ति के
समय में जो सत्वसंशोधन करें, चिंतन करें, आत्मनिरीक्षण करें,
उसका उपयोग हम अपनी प्रवृत्ति में करें। तथा प्रवृत्ति निवृत्ति
के लिए है। यानी प्रवृत्ति के प्रवाह में हम जागृति भूल जाते हैं,
उसे पुनः लानेके लिए, प्रवृत्ति को अधिक सुन्दर और ध्येयलक्षी बनाने
के लिए निवृत्ति जरूरी है। इसलिए न तो अकेली प्रवृत्ति का मूल्य
है, न अकेली निवृत्ति का। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक ही जीवन
रूपी सिक्के की दो बाजू हैं। दोनों बाजू सुरक्षित रहेगी तभी सिक्का
चल सकेगा। धर्म का उद्देश्य भी सुखसंवर्धन और दुःखनिवारण है।
पहले दुःखनिवारणरूप निवृत्ति करनी पडती है, फिर सुखसंवर्धनरूप
प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अकेली निवृत्ति जड़ता, आलस्य, अकर्मण्यता
गैरजिम्मेवारी पैदा करती है और अकेली प्रवृत्ति मानव में शैतानियत
हैवानियत पैदा करती है।

पर आज की साधुसंन्यासियों की दशा बिलकुल निष्क्रिय हो ग
है। साधुवर्ग में आलस्य और जडता घुस गई है। एकान्त निवृत्ति
ही साधुधर्म की कसौटी बना डाली है, और इसके फलस्वरूप
माना गया कि जो साधु जितना अकर्मण्य हो, खापीकर या उपा
करके बेफिक्र पडा रहे, दुनिया से भागता फिरे, समाज से उदासी
रहे, वह उतना ही बडा साधु। उसकी इस निवृत्ति से उसको
जगत् का क्या लाभ होता है, किसका कितना सुख बढता है, दु
हटता है, इसकी तरफ उसका या तथाकथित मान्यतावालों का ध्या
नहीं जाता। परन्तु यह तो निश्चित है कि साधुमार्गियों अपने
दूसरों के सहज कल्याण के लिए भी आत्मा को अबाधक सक्रिया
शुद्ध क्रियाओं, सत्प्रवृत्तियों का आचरण नहीं करेंगे तो जगत् का
अव्यवस्था बढेगी। और जगत् में अव्यवस्था बढेगी यानी हिंसा,

प्रवृत्तिलक्षी सागर में पड़े हुए गृहस्थवर्ग को निवृत्ति लक्ष की मुन्दडी देकर उबार लेती है। यानी आज के अकर्मण्य साधुवर्ग को (जो निवृत्तिमार्गी बन गया है) समाज का धारण, पोषण, और परिसंशोधन हो सके, ऐसी सत्य-प्रेम-न्याय-रूप धर्म-प्रेरणा की प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है और आज का गृहस्थवर्ग, जो धन के लिए धर्म का उपयोग करता है, सुबह से शाम तक 'भजकलदारं' की धुन में डूबा रहता है, धर्म और आत्मनिरीक्षण पर जिसे बिलकुल श्रद्धा नहीं रही, जीवन में रस नहीं है, ऐसे प्रवाह में पड़े हुए गृहस्थवर्ग को निवृत्तिलक्षी बनने को प्रेरित करती है। इस प्रकार जैनागम और गीता दोनों प्रवृत्ति निवृत्ति-समन्वय की आवश्यकता बताते हैं।

असल में पाप या कर्मबन्ध का आधार प्रवृत्ति नहीं, अपितु अध्यवसाय है। इसलिए शुद्ध उपयोग यानी आत्मलक्षिता रखकर कोई भी प्रवृत्ति की जाय तो उसके पीछे रही हुई कलुषितता मिट जाती है।

वीतरागताप्रेमी साधुओं के लिए जगत् के प्रति वात्सल्य रखने का आदेश शास्त्रों में दिया है, इसी कारण उन्हें छकाया (विश्व) के मातापिता कहा है। और इसीलिए छकाया (विश्व) से अलग यानी बुराइयों से दूर रहना जैसे निवृत्तिमार्ग है, वैसे ही छकाया (विश्व) के साथ ओतप्रोत होते हुए भी उससे अनासक्त रहना प्रवृत्तिमार्ग है। इन दोनों की साधुजीवन में जरूरत है। प्रवृत्तिलक्षी निवृत्ति और निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति इन दोनों का समन्वय ही आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का समन्वय है, सब धर्मों का मध्यबिन्दु है, विश्व वात्सल्य की सक्रिय साधना है। विश्ववत्सल क्योंकि अगर जगत् की आज की भयंकर अव्यवस्था को देखते हुए, उसे मिटाने के लिए

कारण मानकर चलते हैं, उन्हें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि धर्म को विश्वप्रेरक बनाने की प्रवृत्ति तो स्वयं ऋषभदेव तीर्थंकर से लेकर भगवान महावीर तक के महापुरुषों ने सर्वजीवहिताय की थी। अतः आत्मभान उनके बिना भूतहिताय प्रवृत्ति भी जो नहीं करेगा, उसे एकांगीमार्ग पर चलना पड़ेगा और उसमें से दम्भ या विकृति बढ़ेगी। इसलिए इस गलत मान्यता को दिमाग में भरे रखने के कारण अधिकांश साधुवर्ग स्वपरकल्याणरूप कार्य करने में असफल साबित होते हैं।

कई साधुसाध्वियों की यह मान्यता है कि राजनीति, अर्थनीति या समाजनीति के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, यानी धर्म का लोकव्यवहारों से कोई वास्ता नहीं है। उनके सामने जब सीधा यह सवाल खड़ा किया जाता है कि धर्म का उपदेश, आदेश या प्रेरणा किसके लिए है? क्या धर्म आसमान में रहने वालों के लिए है या नारकी लोगों के लिए? अथवा एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय या पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचोंके लिए है? यदि वह मनुष्यों के लिए है तो मनुष्यों के जीवनव्यवहार से उसको अलग कैसे किया जा सकता है? मनुष्यों के जीवनव्यवहार में तो राजनीति भी आती है, समाजनीति भी आती है, अर्थनीति (लेनदेन, व्यापार व०) भी आती है, विज्ञान, कला, शिक्षण और संस्कृति सभी आती हैं, धर्म इनसे भागता फिरेगा तो अपना रंग कहां और किसमें लगायेगा? या इनको (व्यवहारों को) अशुद्ध या अस्वस्थ होते देख कर शुद्धि या चिकित्सा करने का काम धर्म का नहीं है? मानवजीवन के सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था को दूर करना, शान्ति फैलाना धर्म का काम नहीं है? यदि है तो फिर राजनीति, अर्थनीति और समाजव्यवहार से धर्म अलग नहीं रह सकेगा। बल्कि आज तो धर्मनायकों की इस भ्रान्ति के कारण, इस ओर उपेक्षा या उदासीनता के कारण इन क्षेत्रों

र गहरी अव्यवस्था, असंतोष, अशान्ति, अशुद्धि और अस्वस्थता फैल
ही है। इन विकृतियों को मिटाने के लिए धर्मगुरु रस नहीं लेंगे,
रणा न देंगे तो कौन देगा? भ. महावीर ने उस समय के समाज
ाज्य और अर्थक्षेत्र के पुरस्कर्ताओं को गहरी से गहरी प्रेरणा देकर
नेक अनिष्ट दूर करवाए हैं। उन्होंने राष्ट्रधर्म, 'विरुद्ध रज्जाइक्कम्मे,
ादि राज्य में शुद्धि के धर्म व नियम भी बताए हैं। इसलिए आज
ई भी साधु राजनीति, समाजनीति या अर्थनीति में धर्मदृष्टि से
रणा, सुझाव या मार्गदर्शन नहीं देसकता, यह कहने का साहस तभी
रना चाहिए, जब वे साधु पहले भारत की राजनीति, समाजशास्त्र और
र्थशास्त्र का पूरा इतिहास पढ लें। रामायणकाल से लेकर आचार्य
मचन्द्रसूरि, हीरविजयसूरि आदि के काल तक के धर्मगुरुओं में—वशिष्ठ
ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, नारद, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथस्वामी, महावीर
ागी, मदनरेखा साध्वी, शीलगुणसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, हीरविजयसूरि
मर्थगुरु रामदास आदि के जीवनवृत्तान्त पढें तो मालूम हो जायगा
ि समाज, राज्य एवं अर्थनीति के विषय में इन्होंने कितनी प्रेरणा
ी है। दुर्भाग्य से मध्ययुग में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में धर्म-
रुओं की प्रेरणा और नैतिक अंकुश न होने के कारण भिक्षाप्रतिबन्धक बिल,
ाधुत्व के लिए लाइसेंस प्रथा, वगैरह कानून आए तथा भारत में
आर्थिकक्षेत्र में शराबबन्दी आन्दोलन की शिथिलता, धार्मिकट्रस्ट
बिल मत्स्योद्योग, मुर्गीपालन उद्योग, कत्लखाने वगैरह बडे पैमाने पर
चल रहे हैं, तब धर्मगुरु या उनके अनुयायी चेतें, उसका कोई
अर्थ नहीं है। एक या दूसरे प्रकार से राजनीति और अर्थक्षेत्र से
धर्मगुरुओंका सम्बन्ध तो आता ही है, परन्तु उनकी लापरवाही से दोनों
क्षेत्र निरर्गल और निरंकुश होकर अब धर्म पर भी हावी होने को
तैयार हैं. इसके लिए जिम्मेदार धर्मगुरु ही माने जायेंगे, जिन्होंने
राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में नैतिक मोडों और

प्रेरणा-प्रदान करना छोड दिया। भारतवर्ष की प्रजा में तो अर्थ और राजनीति पर धर्म का वरद हस्तसदा से रहा है। यहां की राजनीति में महात्मा गांधी ने सत्य-अहिंसा को प्रविष्ट करवाकर उसकी शुद्धि करके हमें प्रत्यक्ष बता दिया है। जनता के रोजमर्रा के जीवन में राजनीतिक और आर्थिक सम्पर्क होने के कारण जननिर्माणकर्ता धर्मगुरु इन दोनों से किनाराकसी कैसे कर सकते हैं। इसलिए धर्मगुरुओं को राजनीति की प्रत्येक बारीक से बारीक बात से वाकिफ होना चाहिए और जहां भी गडबड हो वहां नीतिधर्म की स्पष्ट प्रेरणा राजनीतिज्ञों को देनी चाहिए। तथा आर्थिक क्षेत्र में भी भगवान् महावीर जैसे तीर्थंकरों ने गृहस्थों के लिए मार्गानुसारी के गुणों में न्यायसम्पन्न आजीविका, तथा तृतीय व्रत में ईमानदारीरूप धर्म की प्रेरणा की है तथा १५ प्रकार के कर्मादानरूप महारम्भी-महापरिग्रही शोषणात्मक आजीविकाओं का गृहस्थों के लिए सर्वथा निषेध किया

[illegible] नहीं, इसी प्रकार का एकांगी मार्ग [illegible] है, क्योंकि [illegible] निषेधात्मक प्रायः अहिंसा का स्वयं [illegible], दूसरों से आचरण [illegible] और जो आचरण करते हैं, उन्हें [illegible] देना भी है। इसे वे भूल जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि वे एकांगी और स्वार्थी बन जाते हैं। अपने सामने [illegible] हो रहे हों या समाज में या देशमें शोषण, अन्याय, [illegible] हिंसा या सामाजिक हिंसा के कार्य हो रहे हों; उन्हें [illegible]–रुकवाने की अपनी जिम्मेवारी नहीं समझते तथा आज जबकि [illegible] की गाड़ी उलटे रास्ते चली हुई है, उस समय भी अहिंसक समाजरचना के अनुकूल अहिंसाप्रधान कार्यों में या महारम्भ से अल्पारम्भ (अल्पहिंसा) की ओर मोड़नेवाले कार्यों में स्वयं निर्लिप्त रह कर भी नैतिक प्रेरणा नहीं देते। विश्व में होनेवाले हिंसाकाण्डों को, मानवहिंसक शस्त्रास्त्रवृद्धि को रोकने के लिए सामूहिक प्रयत्न नहीं करते। या वनस्पति, मिट्टी पानी आदि के जीवों या विकलेन्द्रिय जीवों की अहिंसा पर खूब जोर देकर हरी लिलोती न खाना, खेती न करना, गोपालन न करना, हाथचक्की में आटा न पीसना आदि गृहस्थों के लिए अनिवार्य अल्पारम्भवाली क्रियाओं का निषेध करने लगे फलतः बड़ी–बड़ी यान्त्रिक हिंसाएँ समाज में फूट निकलीं, मनुष्यों के शोषण, ब्याज, ब्लेक, अन्याय, अत्याचार, बेईमानी आदि द्वारा होनेवाली मानवहिंसाएँ बढ़ने लगीं। मूल में तो साधुओं के लिए भावहिंसा–राग, द्वेष, आसक्ति, कषाय आदि का हर प्रेरणा के पीछे निषेध किया है, क्योंकि दुष्कर्मबन्धन भावहिंसा से ही होता है, इसलिए अल्पारम्भी कार्यों की ओर गृहस्थ की दृष्टि टिकाने के लिए स्वयं निर्लिप्त रहकर प्रेरणा दी जाय तो वह साधु की तीन करण तीन योग से ली हुई अहिंसाप्रतिज्ञा में किसी तरह बाधक नहीं है। उलटे, विधेयात्मक अहिंसा की साधक है। शोषण को

है, [illegible] और अन्य [illegible] जो उसे आगे [illegible] में भी कोई क्रांति करने में [illegible] हो रहा है, जो [illegible] के घेरे को तोड़ने नहीं देता है।

(११) हर एक साधु प्रायः किसी न किसी सम्प्रदाय के बन्धन में है। यह इतनी बुरी बात नहीं है। पर बुरी बात यह है कि वह अपना कार्यक्षेत्र भी या सम्पर्क (व्याख्यान, भिक्षाचरी, विहारादि का सम्पर्क) भी उसी सम्प्रदाय के भीतर बनाए रखे। आदमी किसी घर का होने पर भी सिर्फ उसी घर को वह अपना कार्यक्षेत्र नहीं बनाता। वह कार्य के लिए परदेश, विदेश या बाजार में चाहे जहां जाता है। इसी प्रकार विश्वकुटुम्बी साधु को साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर अपने विश्ववात्सल्य की भावना को विशाल कार्यक्षेत्र अपना कर सक्रिय रूप में परिणत करना चाहिए। हां, खानपान, वेशभूषा, तथा संगठन की दृष्टि से वह किसी एक सम्प्रदाय का अंग बन कर रह सकता है पर कार्यक्षेत्र और दृष्टि भी संकुचित बना ली तो धर्ममय समाज-रचना में असफलता ही हाथ लगेगी।

(१२) एक सम्प्रदाय का साधु दूसरे सम्प्रदायवाले को नास्तिक, मिथ्यात्वी, काफिर या पाखण्डी आदि कहता है; और कहता है सम्प्रदाय-भेद के कारण; न कि उस व्यक्ति के दोष के कारण। यह निन्दकता या संकुचितता साधुता में भी बाधक है, समन्वयपूर्वक जनसेवा के विशाल क्षेत्र में कार्य करने में असफलताएं और बाधाएं पैदा करने वाली है। आज तो सब तरह के साधुवर्ग में परस्पर प्रेम

की आवाज सुनकर मानवसमाज और विश्व के लिए सस्ते से सस्ते से अच्छे और उपयोगी से उपयोगी सेवक बनने चाहिए।

उपयोगी कैसे बनें ?

ऊपर जो साधुसाध्वियों की जिम्मेवारी तथा तदनुरूप कार्य बताये गये हैं, उन्हें करने के लिए तथा ऊपर जो बाधक कारण बताए गए हैं उन्हें दूर करने के लिए जिस योग्यता, कार्यक्षमता एवं शक्ति की जरूरत है, वह साधुसाध्वियों में कैसे आए, और वे समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए उपयोगी एवं शुद्ध कैसे बन सकें, यह सवाल प्रत्येक विचारशील साधुसाध्वी एवं सद्‌गृहस्थ भाईबहिनों के मन में उठता होगा, उठना स्वभाविक है। उपर्युक्त असफलता के कारणों को छोड़ने का संकल्प करने वाले, तथा अपनी जिम्मेवारी निभाने तथा तदनुरूप हाथ में लेने वाले साधुसाध्वी भारत में कितने निकलेंगे, यह नहीं जा सकता। किन्तु हमारा विश्वास है कि जनता को जगाने और साधुसंस्था के क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को समझाने से वे तैयार हो सकेंगे। सारी की सारी साधुसंस्था अभी धर्मक्रान्ति के लिए तैयार हो सके, ऐसा संभव नहीं है, किन्तु उसमें से चुनिंदा साधुसाध्वीरत्न अवश्य निकलेंगे, जो विश्व के लिये उपयोगी बनना और अपनी साधुता को सार्थक बनाना चाहते हैं। साधुसाध्वियों को समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए उपयोगी, योग्य एवं कार्यक्षम बनाने के लिए नीचे कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं :—

(१) कुछ साधुसाध्वियों में धर्मक्रान्ति करने की तड़पन है, किन्तु वे अभी अकेले अकेले हैं, उन्हें कोई सामूहिक पीठबल नहीं है, इसलिए कुछ महीनों के लिए ऐसे विचारक साधुसाध्वी एक शिविर के रूप में एक जगह एकत्रित हों; जहां वे किन्हीं विशिष्ट और अनुभवी साधु-साध्वियों के साथ परस्पर चर्चा-विचारणा, विचार-विनिमय, अध्ययन-मनन, अपने अनुभवों का आदान-प्रदान तथा सुझाव-परामर्शों का विनिमय

शीलवती विधवा बहिनों की शक्ति का बाल-शिक्षण-संस्कार में उपयोग करा कर समाज को वे एक बहुत बड़ी देन दे सकेंगे।

(७) जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद के किलों को तोडने के लिए साधुवर्ग विभिन्न जाति एवं धंधोंवाले लोगों से मिले, विभिन्न सम्प्रदाय के साधुसाध्वियों से मिले, उनके साथ प्रेम, सहानुभूति और शिष्टाचार रखें। निचले स्तर के, पिछडे, असंस्कारी एवं अस्पृश्य माने जाने वाले लोगों के मोहल्लों में जाय, उनकी दशा देख कर योग्य प्रेरणा करे, उपदेश दे। उन्हें अपनाने के लिए प्रयत्न करे, उन्हें मांसाहार व शराब आदि व्यसन छुडा कर संस्कारी बनाने का प्रयत्न करे, निर्मांसाहारी के यहां से भिक्षा लेने में किसी प्रकार का संकोच न रखे। इस प्रकार साधु मानवजाति के टूटे हुए दिलों को जोड सकेगा। साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों में आपसी सहयोग भी स्थापित करा सकेगा।

(८) साधुसाध्वी आज के समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी तभी बन सकेंगे, जब वे आज के समाज व राष्ट्रके सभी प्रश्नों को सत्य-प्रेम-न्याय की दृष्टि से समझेंगे, सोचेंगे, हल करेंगे। युग की मांग को देख कर धर्मकार्य का युग के साथ समन्वय करेंगे। पुराने शास्त्रों की बातों को युग के ढांचे में ढालने की कोशिश करेंगे। उनके विवरणों में नहीं, विवरणों के पीछे रहे हुए मूलभूत सत्यों का खोज कर व्यक्तिगत मूल्यों को सामाजिक बना देंगे।

(९) जो परम्परा या नियमोपनियम आज व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कोई हित-सम्पादन न करते हों, जो युगबाह्य हो गए हों, जिनसे दम्भ और गुप्तता बढने की शंका हो, और जो नियम या परम्पराएं प्रकारान्तर से सिद्धान्त-भंग करनेवाली हों, विकास में रुकावट डालने वाली हों, उनमें नैतिक हिम्मत करके संशोधन-परिवर्द्धन करना अनिवार्य लगे तो साधुसाध्वी अवश्य करें, किन्तु शिथिलता, आराम

पाये जाते हैं, जिनके कारण वे वास्तविक साधुओं को साधु कहने के लिए तैयार नहीं हैं। इसका मुख्य कारण अन्धविश्वास है, परम्परा-मोह आदि है, गौण कारण कायरता है। इस प्रकार साधुसंस्था के ध्येय और उसके स्वरूप के बारे में शिक्षित-अशिक्षित सभी के मन में भयंकर भ्रम है। इन बातों को छानबीन करने को प्रायः वे तैयार नहीं होते। इसलिए विचारशील साधुसाध्वियों को तो इस विषय में गहराई से छानबीन करके जनता के भ्रम को दूर करने और जनता में साधुवर्ग की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए निःशंक प्रयत्न करना चाहिए।

(११) साधुसंस्था में कई साधुसाध्वियां अच्छे लेखक, कवि या साहित्यकार हैं, कई संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के अच्छे विद्वान् हैं। परन्तु उनकी लेखनशक्ति व वक्तृत्वशक्ति, वक्तृत्वशक्ति व विवेचनशक्ति का उपयोग युगलक्षी धर्मदृष्टि से, सर्वांगीदृष्टि से नहीं होता; बल्कि पुरानी अनुपयोगी और युगबाह्य साहित्यरचना में उनका बहुत-सा समय और शक्ति खर्च होती है, गृहस्थों का लाखों रुपया ऐसे साहित्य के प्रकाशन में खर्च होता है, जिससे उनका कोई वास्तविक फायदा नहीं होता या आज के उनके दैनिक जीवनप्रश्नों को वह हल नहीं करता; उनकी दृष्टि सर्वांगी और दीर्घदर्शी नहीं बनाता, बल्कि कुछ साहित्य तो संकुचितता और अन्धविश्वास तक फैलाने का कार्य करता है। ऐसे साहित्य के प्रकाशन के निमित्त अनीतिमान शोषक श्रीमन्तों को प्रतिष्ठा देकर पुराने मूल्यों का पोषण किया जाता है। कई साधुओं के लेख या कविता अनुभवसम्पृक्त नहीं होते, वे केवल इधर-उधर से किताबों से पढ़कर या अमुक ग्रन्थों के उद्धरणों की भरमार देकर लिखते हैं। युगानुरूप, जीवनस्पर्शी, नवमूल्यपोषक लेख या कविताएं हों या विवेचन हों तो वे लोकभोग्य हो सकते हैं, ऐसे साधुसाध्वी यह लोकोपयोगी सेवा कर सकते हैं।

दृष्टि से उसे करना परधर्म है। कई बार ऐसा होता है कि अपने छोटे से सिद्धान्त या सत्य की वफादारी के लिए अपने माने जानेवाले, अनेक लोगों का दिल दुखता है, उस समय उनका मान रखने के लिए सत्य या सिद्धान्त की वफादारी से चूक जाना परधर्म हुआ। इसीलिए स्वधर्म के लिए—सत्य के लिए मरना पड़े, देह को कसना पड़े तो—भी वह श्रेयस्कर है, परन्तु परधर्म चाहे कितना ही लुभावना या सुन्दर क्यों न हो, वह भयावह है, उसमें पतन का भय है। इसका यह मतलब नहीं है कि स्वयं का जो सत्य लगा, वही सत्य है, दूसरों के अभिप्राय को सुनना ही नहीं। अपितु लोकाभिप्रायमात्र से वह अपने सत्य को न छोड़े, उसी तरह लोकाभिप्राय को लापरवाही से न ठुकरा कर उसमें से अपने मार्ग में जहां संशोधन जरूरी मालूम हो, वहां संशोधन करना चाहिए। स्वधर्म से यहां साम्प्रदायिक धर्म नहीं समझना चाहिए। यद्यपि गीता के टीकाकारोंने स्वधर्म से वर्णाश्रमधर्म लिया है, फिर भी उसका आशय आन्तरधर्म से है। साधुओं के लिए स्वधर्म है, जहां-जहां असत्य, अन्याय, अत्याचार दिखाई पड़े, वहां प्राणप्रण से अहिंसक ढंग से जूझना। मतलब यह कि अपने सत्य और विश्वप्रेम का समन्वय साध कर चलना स्वधर्म है।

अतः मोह के या लोभ के वश हो कर साधुओंके लिए परधर्म आते हैं, वहां डिगना नहीं है। जैसे आजकल साधुवर्ग के लिए उत्पादक श्रम की आवाज उठाई जा रही है, वहां साधुसाध्वी आवेश में आकर बिना ही किसी अनिवार्य अपवाद के स्वयं उत्पादकश्रम में जुट पड़े तो विश्वचिंतन तथा विश्व में सत्य, प्रेम और न्याय का उत्पादन करने का श्रम छूट जायगा, फिर उस उत्पादक श्रम के साथ लोभ, मोह, परिग्रह आदि भी बढ़ने की और साधुमर्यादाएँ छूटने की भी पूरी-पूरी आशंका है।

(५) क्रान्तिप्रिय अनुबन्धकार, साधुसाध्वी को जब नैतिक-धार्मिक

रेणा देने का, चौकी रखने का, विश्वप्रश्नों को धर्मदृष्टि से सुलझाने का
प्रश्न आए, उस समय उसे खूब जागृति रखना आवश्यक है। अर्थात्
सकजीवन के सभी क्षेत्रों में से कई क्षेत्रों में तो स्वयं प्रत्यक्ष आचरण का
संग आता है, उसमें तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु कई क्षेत्रों-सामाजिक,
र्थिक, राजनैतिक-आदि में सिर्फ नैतिक-धार्मिक प्रेरणा देने का ही
ल है, वहां वह तादात्म्य के साथ ताटस्थ्य रखे, अन्यथा इस
वेक को भूल कर यदि वह स्वयं गार्हस्थ्य प्रपंचों या हिसाबकिताब
पचड़ों या राजकीय पदों में पड़ जायगा तो अपनी साधुता की मर्यादा
उल्लंघन कर बैठेगा। यतिवर्ग पहले तटस्थ रह कर समाजसेवा का
ं करता था, परन्तु धीरे धीरे पैसा रखने लगा और पैसा लेकर
क और ज्योतिष का धंधा करने लगा, इस तरह पतन होते-होते
चर्य से भी हाथ धो बैठा। साधुसाध्वियों के लिए यह बात सावधानी
ने की कितनी प्रेरणा दे रही है? इसलिए साधुसाध्वियों को समाज,
 और विश्व के प्रश्नों को लेने के लिए समाज-राष्ट्रादि के सम्पर्क से
ो की जरूरत नहीं, पर उसकी आसक्ति, मोह या रागद्वेष से बचने
जरूरत है। आत्यन्तिक तटस्थता में जैसे अलग-थलग पड़ जाने
पलायनवाद का भय है, वैसे ही एकान्त तदात्मता में जनूनवाद का
है। इसीलिए साधुसंन्यासियों के लिए विश्व (छकाया) के साथ
प्रोत रहते हुए वात्सल्य रखते हुए, हितचिन्तन, हितप्रेरणा करते
भी, विश्व के दुर्गुणों से, अशुद्धियों से, स्वार्थभावों से दूर रहने
विधान है। केन्द्र में अनासक्ति रख कर विश्वरचना के काम में
पड़ने की ओर आज के युगधर्म का संकेत है।

(६) आज समाज में नारीजाति की स्थिति काफी बदतर है।
पि स्त्रीजाति में धर्ममय समाजरचना में काम आने वाले गुण;
सलता; क्षमा, धैर्य, शुश्रूषा, कोमलता आदि पुरुषजाति की अपेक्षा
धिक है, परन्तु इसकी इन शक्तियों का ठीक दिशा में उपयोग हो

दृष्टि से उसे कसना परधर्म है। कई बार ऐसा होता है कि अपने छोटे से सिद्धान्त या सत्य की वफादारी के लिए अपने माने जानेवाले, अनेक लोगों का दिल दुखता है, उस समय उनका मान रखने के लिए सत्य या सिद्धान्त की वफादारी से चूक जाना परधर्म हुआ। इसीलिए स्वधर्म के लिए—सत्य के लिए मरना पड़े, देह को कसना पड़े तो—भी वह श्रेयस्कर है, परन्तु परधर्म चाहे कितना ही लुभावना या सुन्दर क्यों न हो, वह भयावह है, उसमें पतन का भय है। इसका यह मतलब नहीं है कि स्वयं का जो सत्य लगा, वही सत्य है, दूसरों के अभिप्राय को सुनना ही नहीं। अपितु लोकाभिप्रायमात्र से वह अपने सत्य को न छोड़े, उसी तरह लोकाभिप्राय को लापरवाही से न ठुकरा कर उसमें से अपने मार्ग में जहां संशोधन जरूरी मालूम हो, वहां संशोधन करना चाहिए। स्वधर्म से यहां साम्प्रदायिक धर्म नहीं समझना चाहिए। यद्यपि गीता के टीकाकारोंने स्वधर्म से वर्णाश्रमधर्म लिया है, फिर भी उसका आशय आन्तरधर्म से है। साधुओं के लिए स्वधर्म है, जहां-जहां असत्य, अन्याय, अत्याचार दिखाई पड़े, वहां प्राणप्रण से अहिंसक ढंग से जूझना। मतलब यह कि अपने सत्य और विश्वप्रेम का समन्वय साध कर चलना स्वधर्म है।

अतः मोह के या लोभ के वश हो कर साधुओंके लिए परधर्म आते हैं, वहां डिगना नहीं है। जैसे आजकल साधुवर्ग के लिए उत्पादक श्रम की आवाज उठाई जा रही है, वहां साधुसाध्वी आवेश में आकर बिना ही किसी अनिवार्य अपवाद के स्वयं उत्पादकश्रम में जुट पड़े तो विश्वचिंतन तथा विश्व में सत्य, प्रेम और न्याय का सम्पादन करने का श्रम छूट जायगा, फिर उस उत्पादक श्रम के साथ लोभ, मोह, परिग्रह आदि भी बढ़ने की और साधुमर्यादाएँ छूटने की भी पूरी-पूरी आशंका है।

(५) क्रान्तिप्रिय अनुबन्धकार, साधुसाध्वी को जब नैतिक-धार्मिक

रहे, ऐसी प्रेरणा और [illegible] है। [illegible]
[illegible]
[illegible] जाति का [illegible]
तथा इन [illegible]
नारीजाति के [illegible]
हो, परन्तु [illegible]
[illegible] आदि से बचना है और अपनी [illegible] में ब्रह्मचर्य
का तेज [illegible] की [illegible] करनी है।
इसका मतलब यह नहीं कि माताओं–बहिनों के सम्पर्क से दूर भागना है, किन्तु सम्पर्क के समय जोखिमों से बराबर सावधान रहना है। कोई साधु चाहे कितना दृढ़ हो, विद्वान् हो या क्रान्तिकारी हो, परन्तु इस सम्बन्ध में उसे अपने को अपवादात्मक मानकर खूब सावधान रहना है। साथ ही ब्रह्मचर्य–पालन के लिए उचित संयमी खानपान, संयमी रहनसहन आदि के बारे में भी खूब विवेकी होना चाहिए। जो सावधानी साधुओं को बहिनों से एवं साध्वी–माताओं से रखने की जरूरत है, वही सावधानी साध्वियों को पुरुषों से और साधु-बन्धुओं से रखनी निहायत जरूरी है।

(७) क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों में विश्वसनीयता, ईमानदारी, सदाचार, सत्यता, सेवाभावना, क्षमा, दया, वत्सलता आदि सद्गुण जनसाधारण से काफी अधिक मात्रा में होने चाहिए। ऐसा होने पर ही वे जनता के श्रद्धाभाजन और पूजनीय बन सकेंगे। दम्भ, आडम्बर, वाचालता आदि के बल पर पूजा–प्रतिष्ठा पाने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए; अन्यथा उनमें गौरव, धीरता और स्वाभिमान नष्ट हो जायेंगे। फलतः उत्साह, साहस, तेज, आत्मबल, मनोबल आदि न रहने से जीवन खोखला हो जायगा। आज साधुवर्ग के विषय में तरह–तरह के कानून बनने जा रहे हैं, न सरकार में उनकी कद्र है, न

स्थिति में। जनसाधारण भी उनके विषय में कुछ जमे हुए से, कुछ डरते हुए से हैं। इसके लिए विशेष जिम्मेदार साधुवर्ग ही है। अतः इस बारे में उन्हें पूरी सावधानी रखने की जरूरत है। साथ ही समाज के साथ व्यवहार करते समय आदर्श का प्रकाश फीका न पड़ने देकर व्यवहारकुशलता के साथ अध्यात्मजीवन चलाना चाहिए। नहीं तो, व्यवहारकुशलता के नाम से दम्भ चलने का खतरा है, जो व्यवहार नहीं, व्यवहाराभास है।

(८) आज के बुद्धिवादी युग में जहाँ एक ओर धर्मों को उठाकर फेंकने की बातें चल रही हैं, वहाँ कोई साधुसाध्वी सर्वधर्मसमन्वय का समतापथ छोड़कर दूसरे धर्म-सम्प्रदाय के लोगों का अपने धर्म-सम्प्रदाय, या पंथ में दीक्षित करें, अनुयायी बनाएं यानी धर्मान्तर या सम्प्रदायान्तर भय अथवा प्रलोभन दे कर कराने का प्रयत्न करें तो यह समतासिद्धान्त से विरुद्ध होगा और विचारक साधुसाध्वी के लिए तो पाप जैसा होगा। हाँ, प्रत्येक धर्मवाली जनता को वे अहिंसक, संस्कारी योग्य बनाने का प्रयत्न निःस्वार्थभाव से करें और वैसी अवस्था में कोई स्वयं अपनी इच्छा से सम्प्रदायान्तर या धर्मान्तर करना चाहे तो उसे रोकने का प्रयत्न करे, इस पर भी कोई अपनी इच्छा से श्रद्धावश किसी दूसरे धर्म की बातों का पालन करता है तो भले करे। परन्तु वटालवृत्ति से तो क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग अवश्य ही सावधान रहे।

(९) क्रान्तिप्रिय साधु या साध्वी जब धर्मक्रान्ति करने का प्रयत्न करेंगे, या आम समाज के मैदान में कार्य करने आयेंगे, उस समय उनका जबरदस्त विरोध होने, उन पर तरह-तरह के आक्षेप या प्रहार होने की संभावना है, कभी-कभी अपने माने जाने वालों की भी श्रद्धा डिगने की संभावना है, क्षणभर तो ऐसा लगेगा कि अपना जगत् में कोई नहीं है। ऐसे समय आवेश में आकर वेश या सम्प्रदाय बदलने की जरूरत नहीं, तथा ज्यादा चर्चाबाजी या बहसमुबाहसे में

भी पढ़ने की जरूरत नहीं। अपना अभ्यास करते हुए चिन्तन बढ़ाने और चारित्र्यशुद्धि में सतत जागृत और कड़े रह कर प्रगति करने की जरूरत है। कुछ समय तक इस प्रकार दृढ़तापूर्वक अपने आग्नेयपथ पर टिके रहने से विरोध का बवंडर धीरे-धीरे शान्त हो जायगा और संभव है, प्रतिकूलताएं भी अनुकूलताओं में बदल जांय। परन्तु ऐसे समय कष्टसहिष्णुता तथा मरणान्तकष्ट-सहन तक की तैयारी रखनी चाहिए; पर नैतिक हिम्मत के साथ समाज के आगे सत्य को खुल्लमखुल्ला कहने में डरना या संकोच करना न चाहिए। आन्तरिक शुद्धि के साथ-साथ सतत प्रगति करते रहना चाहिए। कष्टों से घबराना नहीं, प्रलोभनों से प्रभावित होकर मार्ग बदलना नहीं, साथ ही अनिवार्य नियमों में शिथिलता न आने देना तथा समाज के सामने बलपूर्वक टिके रहने का अभिमान भी न आने देना, यही क्रान्तिकारी साधकों का राजमार्ग है।

(१०) आज अधिकांश साधुसाध्वियों का जीवन दीनताभरा, गौरवहीन व लाचारीभरासा बन रहा है। इसका कारण यही है कि प्रायः सभी सम्प्रदायों पर धनिकों का वर्चस्व है या सत्ताधारियों का दबदबा है, इसके कारण कोई भी विचारशील साधुसाध्वी धर्मक्रान्ति करने का विचार करते हैं या प्रयत्न करते हैं तो तथाकथित निहित-स्वार्थी लोग उन पर दबाव डालने, उन्हें प्रलोभन देने, उन्हें प्रतिष्ठाहीन करने, कायल करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को सत्य के सिवाय किसी के सामने नहीं झुकना है, इसी में उनका गौरव है। इसका मतलब यह नहीं कि वे अपने गुरुओं या अन्य मुनियों का अविनय करें, उनके प्रति विद्रोह करें; किन्तु वे गुरु और शास्त्र की आज्ञा की गुणवत्य को बातों से मिलान करें; अन्तर में उतरे हुए सत्य व सिद्धान्त के साथ समन्वित करें, उसके बाद भी उन्हें गुरु या शास्त्र की आज्ञा भी अपने हृदय में जचे हुए सत्य से

विरुद्ध प्रतीत होती हो तो 'सजरत आगाए' (सत्य की आज्ञा से) रह कर कार्य करें, अपने बड़ों को विनयपूर्वक समझाने का प्रयत्न करें, उनके साथ मीठा सम्बन्ध बनाए रखें। पर गौरव-शाली का अर्थ अहंकारी नहीं है। हर क्रान्तिकारी साधुसाध्वी को अत्यन्त कोमल, नम्र और प्रेमल रहना है। उनका गौरव इसी में है कि उनके गौरव के आगे बड़े-बड़े सम्राटों, पदाधिकारियों, श्रीमन्तों और नेताओं का गौरव भी तुच्छ मालूम हो। साथ ही भौतिक वस्तुओं पर किसी प्रकार की आसक्ति न होने से वे भौतिक दृष्टि से तृप्त हों, कम से कम लेकर अधिक से अधिक देने के कारण वे किसी के ऋणी नहीं हैं, बल्कि जगत् ही उनका ऋणी है। गौरवशाली साधु लालसा-पूर्वक किसी भी धन या सत्तावाले का मुंह नहीं ताकते, किसी के वैभव से चकित नहीं होते, न उसकी प्यास से छटपटाते हैं, यही कारण है कि दुनिया में क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग ही एक ऐसा है जिसे पद, वैभव, पदवियों, पुरस्कार, सुखसुविधा आदि की कोई परवाह नहीं है, यहां तक कि दुनिया की प्रतिष्ठा की भी उसे कोई परवाह नहीं है। यह आत्मप्रतिष्ठ है। अकिंचनता उसका दूषण नहीं, भूषण है। इसलिए ऐसे क्रान्तिकारी साधुसाध्वीयों को आज के विश्व की पीडा-पूंजी की उपासना - से दूर रहना चाहिए। उन्हें पूंजीवादियों को पूंजी के कारण मिलनेवाली प्रतिष्ठा तोड़नी है और नीति, धर्म को प्रतिष्ठा देनी है। इसलिए अनीतिमान धनिकों के हाथ में नहीं बिकना है। पैसे से ही चल सकने वाली, और पैसों के बिना रुक जाने वाली तथा-कथित धर्मक्रियाएँ भले ही रुक जांय, परन्तु पैसेवाले अपने अनीति व शोषण के प्रायश्चित्तस्वरूप अथवा नीतिमार्ग पर चलने की इच्छा से सहयोग देते हों तभी उनका सहयोग ग्रहण करना है, अन्यथा नहीं। इस-लिए भूलचूक कर भी सभाओं, व्याख्यानों, उत्सवों, प्रकाशनों आदि में अगर आपने पैसेवालों को सिर्फ पैसे के खातिर प्रतिष्ठा (किसी भी

प्रकार की) दे दी या दिला दी तो आपका साधुजीवन भंग हो जायगा आप उनके हाथों बिक जायेंगे, आप उन्हें सत्य कहने से किनारा करेंगे, शर्मायेंगे या हिचकिचायेंगे। आज आप जैसे क्रान्तिकारी साधुसाध्वियों का वर्ग ही एक ऐसा है, जो बिना बिके रह सकता है, सत्य की सेवा कर सकता है। बाकी लोग प्रायः बिक जाते हैं। बड़े-बड़े शासक, व नेता प्रायः पद लोलुपता के कारण बिके रहते हैं और जनसाधारण तो प्रायः रोटी के कारण ही बिका रहता है। इस प्रकार अन्यवर्ग का जीवन प्रायः बिका हुआ रहने से वे चाहते हुए भी सत्य सेवा नहीं कर सकते।

सबसे बड़ा अधिकारी, सम्राट्, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि अपने पद के कारण क्रान्तिप्रिय साधुवर्ग से बड़ा नहीं है। उसका पद सबसे बड़ा गौरवशाली और जगत्पूज्य पद है। अतः उसे हर समय आवश्यक क्रान्ति के लिये तैयार रहना है, युगदर्शक रहना है, समाज को क्रान्ति की दिशा में ही ले जाना है। धनिक लोगों के भी हितैषी बनकर उन्हें उसे आजीविकाशुद्धि का व्रत सर्वप्रथम दिलाना है और पिछला प्रायश्चित्त करना है, इस तरह उनकी सही चिकित्सा और शुद्धि करनी है; उनके भाट या वकील नहीं बनना है। उसे दुनिया को खुश नहीं करना है, दुनिया का कल्याण करना है। वह दुनिया का गुलाम नहीं, सेवक और चिकित्सक है। इसलिए स्वयं अपना जीवन इतनी सादगी से बिताना है कि कोई उसे पराश्रित बना कर, खरीद न ले या उसके विचारों या विश्वासों पर प्रतिबन्ध न लगा दे। इस प्रकार उसे स्वावलम्बी और निरपेक्ष बनने का प्रयत्न करना है।

(११) जगत् के कल्याण, समाजशुद्धि या अपनी शुद्धि के लिए जिन कष्टों को सहना अनिवार्य है, उन कष्टों को साधुवर्ग अवश्य ही

प्रकार की) दे दी या दिला दी तो आपका आत्मगौरव नष्ट हो जाय। आप उनके हाथों बिक जायेंगे, आप उन्हें सत्य कहने से लिहाज करेंगे, शर्मायेंगे या हिचकिचाहेंगे। आज आप जैसे क्रान्तिकारी सत्यानुसन्धियों का वर्ग ही एक ऐसा है, जो बिना बिके रह सकता है, सत्य की सेवा कर सकता है। बाकी लोग प्रायः बिक जाते हैं। बड़े-बड़े शासक, व नेता प्रायः पद लोलुपता के कारण बिके रहते हैं और जनसाधारण तो प्रायः रोटी के कारण ही बिका रहता है। इस प्रकार अन्यवर्ग का जीवन प्रायः बिका हुआ रहने से वे चाहते हुए भी सत्य सेवा नहीं कर सकते।

है। लेकिन कष्टों की कीमत प्रतिष्ठा, वैभव आदि के रूप में प्राप्त करने के लिए पृथाकष्ट न सहे। परमात्मा की सेवा करने का भी दावा नहीं करे, क्योंकि परमात्मा को अपनी सेवा को कोई जरूरत नहीं है, न वे बीमार हैं, न भूखेप्यासे हैं, न गरीब। तब आप उनकी गर सेवा करेंगे? आपको सेवा करनी है, तो परमात्मा के बनाए हुए संसार या जैन परिभाषा में कहें तो तीर्थंकरों के रचे हुए समाजों (संघों तीर्थों) की, व्यक्ति-समाज, समष्टिरूप विश्व की निःस्वार्थ निर सेवा करें यही प्रभुसेवा है; यह ध्यान में रखना है। या विश्वकल्याण अहिंसा-सत्यादिरूप धर्म की सेवा करनी है, उसे जन-जन के मं में पहुंचाएं जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रविष्ट कराएं।

(१२) इस देश में साधुवर्ग की चौकी हमेशा से आम करती आ रही है और आमजनता की चौकी साधुवर्ग। जैनसं इस व्यवस्था का विशेषरूप से विकास हुआ है। चतुर्विध संन्यासाश्रमी और गृहस्थाश्रमी दोनों होते हैं। वहां संघ (तीर्थ भक्ति तीर्थंकरों के अभाव में तीर्थंकर जितनी ही मान कर शुद्धि के लिए प्रयत्न करते रहने का विधान है। साधुसाध्वि कहा गया – 'आप सारे विश्व के मातापिता हैं।' इसी प्रकार ... "आप साधुसा...

इसकी चोटी की मुख्य जिम्मेदारी साधुवर्ग की है, अगर साधुवर्ग स्वयं ही अनाचार और अहम् में पड़ कर पतन के गर्त में गिर रहा हो तो उस समय विनयभक्तिपूर्वक अहिंसक उपायों से समझा-बुझा कर उनकी शुद्धि कराना गृहस्थवर्ग का परम कर्तव्य हो जाता है। साधुवर्ग को अपने आपको सिद्ध न मान कर साधक मानना चाहिए और हितकर बात हितैषी व्यक्तियों की सुननी चाहिए। गृहस्थों को चारित्र्य ही सबसे बड़ा चमत्कार है, इस पर श्रद्धा बढ़ाते रहना चाहिए और झूठा ममत्व, भय, लोभ छोड़ते रहना चाहिए। तभी साधुसंस्था शुद्ध रह सकती है। साथ ही साधुसंस्था के अनुगामी गृहस्थीवर्ग में जो नीति-नियमपूर्वक चलते हों, उन्हें साधुसंस्था के किसी भी साधुसाध्वी में दम्भ, अज्ञान, दुश्चारित्र्य फैलता दीखे तो तुरंत उस पर नैतिक सामाजिक दबाव लाने का प्रयत्न करना चाहिए। सर्वप्रथम तो उन्हें ऐसे साधुवेषियों को सीधे मार्ग पर आने का अवसर देना चाहिए। अगर उनमें कुछ भी खानदानी का असर होगा तो शुद्ध समाज के थोड़े से लोगों की त्याग-तपस्या से उनका दिल पलटे बिना न रहेगा, इस प्रकार साधुसंस्था शुद्ध रहेगी तो उससे जगत् का, समाज और राष्ट्र का बहुत बड़ा कल्याणकार्य हो सकेगा। क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को तो अपनी शुद्धि और सावधानी के लिए प्रतिदिन ध्येयलक्षी प्रतिक्रमण, अन्तर्निरीक्षण करना चाहिए कि आज मैंने कितनी और क्या सेवा की? कितनी साधना की? कहां, क्या अनुबन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया? कितना सुतप किया? समय का सदुपयोग हुआ या नहीं? ऐसे प्रभुप्रार्थना करके अन्तर्जीवन की शुद्धि करने और कर्तव्यप्रेरणा लेने की कोशिश करनी चाहिए।

ये और इस प्रकार की अन्य कुछ बातें है, जिन्हें क्रान्तिप्रिय सर्वांगीदृष्टिसम्पन्न साधुसाध्वी अपने जीवन में उतारेंगे तो सचमुच उनके द्वारा आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का समन्वय होते देर न लगेगी।

बचाने के लिए स्त्रियों के मैदान में शीघ्र आएं, यह उनके लिए अन्तिम चेतावनी है।

आज के राजनीति-प्रधान युग में राजनीति में जो पवित्रता, सचाई और अहिंसा महात्मा गांधीजी के भगीरथ प्रयत्न से आई थी, वह धीरे-धीरे घट रही है। इससे राजनीति एकांगी बनती जा रही है। एकांगी राजनीति पर पद-पद पर जनता का अंकुश होना चाहिए। और वह कांग्रेसियों की तरह शुद्ध ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। आज के सत्तावाले युग में कांग्रेस एक राष्ट्रीय संगठन होते हुए भी उसका भूतकालीन तप-त्याग तथा सत्य, अहिंसा व बलिदान का स्वराज्य से पहले का इतिहास है। आज भी उसमें भारत के चोटी के त्यागशील व्यक्ति हैं। इसलिए उसके साथ अनुबन्ध जोड़ कर अगर जनता के धर्म की बुनियादवाले संगठन किये जाएं तो देश और दुनिया के उलझनमय प्रश्न सहज ही हल किए जा सकते हैं। तभी राष्ट्रीय संगठन शुद्ध और जनताभिमुख बन सकता है। ऐसा ऐतिहासिक कार्य क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को शीघ्र ही हाथ में लेना चाहिए। जैनशास्त्रों के पन्ने तो ऋषभदेव भगवान् से लेकर आज तक का सत्य धर्ममय समाजरचना का इतिहास है। राज्यसंगठन, जनसंगठन और साधक-संगठन यों ठेठ बुनियाद से लेकर ऊपर तक के तीनों शुद्ध संगठन जैन इतिहास में अनुबंधित और विहित हैं। इसलिए उन्हें इस कार्य में क्षणमात्र भी प्रमाद किए बिना जुट पड़ना चाहिए, अन्यथा, प्रत्येक क्षेत्र में इस आध्यात्मिक शक्ति को शीघ्र और पूर्णतया अनुबन्धित नहीं किया जायगा तो भारत के लिए आए हुए अद्वितीय अवसर को खोने का अपयश वे सिर पर लेंगे और विश्वशान्ति के आज तक के किये-कराए प्रयत्नों पर पानी फिर जायगा।

अन्त में क्रान्तिप्रिय दीर्घदर्शी सद्गृहस्थ भाईबहनों से भी कहूंगा कि वे युग के प्रवाह को पहिचानें और क्रान्तिप्रिय तेजस्वी

[illegible]

आज के युग में [illegible] हैं, परन्तु मुख्य प्रश्न दो हैं (१) पूर्व और पश्चिम की भिन्न भिन्न संस्कृतियाँ आज टकरा रही है। एक में आध्यात्मिकता मुख्य है, दूसरी में भौतिकता। इन दोनों के संमिश्रण में से आध्यात्मिकता को आगे लाकर सारे जगत् में प्रतिष्ठित करा सके, ऐसी शक्ति जिस धर्म में होगी, वही धर्म आज का विश्वधर्म बन सकेगा। (२) राज्यशासन की पकड़ सारी दुनिया में है ही, स्वराज्य के बाद भारत पर भी इसने अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया है, इससे भारतीय विचारकों में खलबली सी पैदा हो गई है, परन्तु जहाँ जनता में ही राज्य के प्रति निष्ठा जम गई हो, ऐसे समय में समग्र जगत् का ध्यान और निष्ठा अपनी ओर खींच सके ऐसी शक्ति भी विश्वजनता तथा विश्वव्यापक धर्म के अनुबन्ध के सिवाय किसी में नहीं है। इस भगीरथ कार्य का नेतृत्व साधुसंस्था के सिवाय और कोई नहीं ले सकती। जिस साधुसंस्था की तरफ से विश्वकी जनता को संस्कृतिपोषण मिला है, वह संस्था अगर आज पीछे रह जायगी तो दुनिया की मानवजाति और अहिंसा-सत्य जैसे महामूल्य सिद्धान्त भोगवादी संस्कृति में गर्क हो जायेंगे। फलतः या तो सुविहित साधुओं को अनशन करने पड़ेंगे या फिर वे पतन के गर्त में गिर पड़ेंगे। इसलिए साधुसंस्थाएँ सर्व-धर्मसमन्वय का झंडा लेकर विश्व में आध्यात्मिकता की बुनियाद

साधुसाध्वियों को हार्दिक सहारा देकर उनका मार्ग स्वच्छ करने व प्रयत्न करें। उन्हें योग्य साधन, योग्य प्रतिष्ठा और योग्य प्रोत्साह देने के लिए व्यक्तिगत और समूहगतरूप से प्रयत्न करें। क्रान्तिप्रि साधुसाध्वी देश और समाज की सच्ची निधि हैं। युगप्रवाह को नह पहिचान कर उन्हें ठुकरा दिया जायगा तो इस निधि का उपयोग भ किया न जा सकेगा और ऐसी युगलक्ष्री साधुसाध्वीरत्नों को खोने रं समाजविकास और राष्ट्रविकास दोनों को जबरदस्त धक्का लगेगा इसलिए वे समय रहते क्रान्तिप्रिय तेजस्वी साधुसाध्वियों को सहानुभूति एवं शुद्ध सहयोग देकर विश्वशान्ति के लिए अजोड कार्य उनके द्वारा करावें।

और क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को भी चाहिये कि वे जगत् में अपनी आत्मा और विश्व के प्राणिमात्र की आत्मा का कल्याण करने के लिए अपनी योग्यता, कार्यक्षमता, शक्ति, और अनासक्ति की साधना बढावें और उसके लिए साधुसाध्वीशिबिर में निःसंकोच भाग लें; जिसकी बुनियाद भालनलकांठाप्रयोग है। तभी विश्वकल्याण का द्वार वे खोल सकेंगे, साधुता की पगडंडी को शुद्ध रख सकेंगे।

समाप्त

'जैसे विचार हों, वैसा ही बोले और जैसा बोले वैसा ही आचरण करे। अर्थात् मन, वचन और काया की एकरुपता साधुता का प्रथम लक्षण है। त्याग लेकर जो सतत जागृत रहे, वही सच्चा साधु है।'

मुनिश्री संतबालजी

☆

'..धार्मिक संस्कृति टिकाने, बढ़ाने, फैलाने और सुधारने के लिए दुनियाभरमें इतनी सुधरी हुई, सस्ती और विश्वासपात्र व्यवस्था हिन्दुस्तान के सिवाय अन्यत्र कहीं न मिलेगी। पतंगा जैसे एक फूल पर से दूसरे फूल पर बैठ कर वृक्षों को सुफलित करता है, वैसे ही साधु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में विचरण करके संस्कृति का आदान-प्रदान करने वाले वनजारे बनते हैं। और देश देशकी संस्कृति की पीठ खोलते हैं। समाज के उच्च और संस्कारी वर्ग के लोग गृहलोलुप बने संयम का स्वाद उनमें से लुप्त हो गया, इसीलिए साधुवर्ग में से भी अच्छे लोग कम हो गए। समाज आलसी, विषयासक्त और लालची बना, साधुकी कद्र किए बिना धर्मका पुण्य जेब में पड़ जाय, इस हेतु से ही वह साधुको मानने लगा। इससे साधुवर्ग भी समाज के जितना ही पतन के गड्डे में पड़ा।'

– काका कालेलकर

☆

'जिसने अपनी बुद्धि, हृदय और आत्मा परमात्मा को समर्पित करदी है वही साधु है। जिसने विषयभोग और परिग्रह छोड दिया है, और स्त्रीयोंको माता के समान देखता है और उन्हे पूज्य मानता है, तथा सब के अन्दर ईश्वर विराजमान है, ऐसा सोच कर सबकी सेवा करता है वही साधु है।'

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

साधुसाध्वियों को हार्दिक सहारा देकर उनका मार्ग स्वच्छ करने का प्रयत्न करें। उन्हें योग्य साधन, योग्य प्रतिष्ठा और योग्य प्रोत्साहन देने के लिए व्यक्तिगत और समूहगतरूप से प्रयत्न करें। क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी देश और समाज की सच्ची निधि हैं। युगप्रवाह को नहीं पहिचान कर उन्हें ठुकरा दिया जायगा तो इस निधि का उपयोग भी किया न जा सकेगा और ऐसी युगलक्षी साधुसाध्वीरत्नों को खोने से समाजविकास और राष्ट्रविकास दोनों को जबरदस्त धक्का लगेगा। इसलिए वे समय रहते क्रान्तिप्रिय तेजस्वी साधुसाध्वियों को सहानुभूति एवं शुद्ध सहयोग देकर विश्वशान्ति के लिए अजोड कार्य उनके द्वारा करावें।

और क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को भी चाहिये कि वे जगत् में अपनी आत्मा और विश्व के प्राणिमात्र की आत्मा का कल्याण करने के लिए अपनी योग्यता, कार्यक्षमता, शक्ति, और अनासक्ति की साधना बढावें और उसके लिए साधुसाध्वीशिविर में निःसंकोच भाग लें; जिसकी बुनियाद भालनलकांठाप्रयोग है। तभी विश्वकल्याण का द्वार वे खोल सकेंगे, साधुता की पगडंडी को शुद्ध रख सकेंगे।

समाप्त

'जैसे विचार हों, वैसा ही बोले और जैसा बोले वैसा ही आचरण करे। अर्थात् मन, वचन और काया की एकरुपता साधुता का प्रथम लक्षण है। त्याग लेकर जो सतत जागृत रहे, वही सच्चा साधु है।'

मुनिश्री संतबालजी

☆

'... धार्मिक संस्कृति टिकाने, बढ़ाने, फैलाने और सुधारने के लिए दुनियाभरमें इतनी सुधरी हुई, सस्ती और विश्वासपात्र व्यवस्था हिन्दुस्तान के सिवाय अन्यत्र कहीं न मिलेगी। पतंगा जैसे एक फूल पर से दूसरे फूल पर बढ कर वृक्षों को सुफलित करता है, वैसे ही साधु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में विचरण करके संस्कृति का आदान-प्रदान करने वाले बनजारे बनते हैं। और देश देशकी संस्कृति की पीठ खोलते हैं। समाज के उच्च और संस्कारी वर्ग के लोग गृहलोलुप बने संयम का स्वाद उनमें से लुप्त हो गया. इसीलिए साधुवर्ग में से भी अच्छे लोग कम हो गए। समाज आलसी, विषयासक्त और लालची बना, साधुकी कद्र किए बिना धर्मका पुण्य जेब में पड़ जाय, इस हेतु से ही वह साधुको मानने लगा। इससे साधुवर्ग भी समाज के जितना हो पतन के गड्ढे में पड़ा।'

– काका कालेलकर

☆

'जिसने अपनी बुद्धि, हृदय और आत्मा परमात्मा को समर्पित करदी है वही साधु है। जिसने विषयभोग और परिग्रह छोड दिया है, और स्त्रीयोंको माता के समान देखता है और उन्हे पूज्य मानता है, तथा सब के अन्दर ईश्वर विराजमान है, ऐसा सोच कर सबकी सेवा करता है वही साधु है।'

साधुसाध्वियों को हार्दिक सहारा देकर उनका मार्ग स्वच्छ करने का प्रयत्न करें। उन्हें योग्य साधन, योग्य प्रतिष्ठा और योग्य प्रोत्साहन देने के लिए व्यक्तिगत और समूहगतरूप से प्रयत्न करें। क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वी देश और समाज की सच्ची निधि हैं। युगप्रवाह को नहीं पहिचान कर उन्हें ठुकरा दिया जायगा तो इस निधि का उपयोग भी किया न जा सकेगा और ऐसी युगलक्षी साधुसाध्वीरत्नों को खोने से समाजविकास और राष्ट्रविकास दोनों को जबरदस्त धक्का लगेगा। इसलिए वे समय रहते क्रान्तिप्रिय तेजस्वी साधुसाध्वियों को सहानुभूति एवं शुद्ध सहयोग देकर विश्वशान्ति के लिए अजोड कार्य उनके द्वारा करावें।

और क्रान्तिप्रिय साधुसाध्वियों को भी चाहिये कि वे जगत् में अपनी आत्मा और विश्व के प्राणिमात्र की आत्मा का कल्याण करने के लिए अपनी योग्यता, कार्यक्षमता, शक्ति, और अनासक्ति की साधना वढावें और उसके लिए साधुसाध्वीशिविर में निःसंकोच भाग लें; जिसकी बुनियाद भालनलकांठाप्रयोग है। तभी विश्वकल्याण का द्वार वे खोल सकेंगे, साधुता की पगडंडी को शुद्ध रख सकेंगे।

समाप्त

'जैसे विचार हों, वैसा ही बोले और जैसा बोले वैसा ही आचरण करे। अर्थात् मन, वचन और काया की एकरूपता साधुता का प्रथम लक्षण है। त्याग लेकर जो सतत जागृत रहे, वही सच्चा साधु है।'

मुनिश्री संतबालजी

☆

'... धार्मिक संस्कृति टिकाने, बढ़ाने, फैलाने और सु...ने के लिए दुनियाभरमें इतनी सुधरी हुई, सस्ती और विश्वासपात्र व्यवस्था हिन्दुस्तान के सिवाय अन्यत्र कहीं न मिलेगी। पतंगा जैसे एक फूल पर से दूसरे फूल पर बठ कर वृक्षों को सुफलित करता है, वैसे ही साधु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में विचरण करके संस्कृति का आदान-प्रदान करने वाले बनजारे बनते हैं। और देश देशकी संस्कृति की पीठ खोलते हैं। समाज के उच्च और संस्कारी वर्ग के लोग गृहलोलुप बने संयम का स्वाद उनमें से लुप्त हो गया. इसीलिए साधुवर्ग में से भी अच्छे लोग कम हो गए। समाज आलसी, विषयासक्त और लालची बना, साधुकी कद्र किए बिना धर्मका पुण्य जेब में पड़ जाय, इस हेतु से ही वह साधुको मानने लगा। इससे साधुवर्ग भी समाज के जितना ही पतन के गड्ढे में पड़ा।'

– काका कालेलकर

☆

'जिसने अपनी बुद्धि, हृदय और आत्मा परमात्मा को समर्पित करदी है वही साधु है। जिसने विषयभोग और परिग्रह छोड़ दिया है, और स्त्रीयोंको माता के समान देखता है और उन्हे पूज्य मानता है, तथा सब के ... ईश्वर विराजमान है, ऐसा सोच कर सबकी सेवा ... वही साधु है।'

—स्वामी रामकृष्ण